CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जनवरी -मार्च १९९८

रंगायन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रंगायन

वर्ष : ३१
अंक: १
जनवरी–मार्च

सम्पादक : पीयूष दईया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रंगायन

(भारतीय लोक कला मण्डल का मुखपत्र)

सम्पादक : पीयूष दईया

मूल्य :
वार्षिक : ८० रुपये मात्र
एक प्रतिः २० रुपये मात्र

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार :
पीयूष दईया
भारतीय लोक कला मण्डल
उदयपुर (राज.) ३१३००१
दूरभाप : ५२८३१६

प्रकाशक :
रियाज तहसीन
मानद सचिव, भारतीय लोक कला मण्डल
उदयपुर ३१३००१ (भारत)
दूरभाष (०२९४) ५२५०७७, ४२९२९६

चौधरी ऑफसेट प्रा. लि.
११-१२ गुरु रामदास कॉलोनी, उदयपुर ३१३००१
फोनः ५८४०७१, ४८५७८४

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुक्रम

बहस :

अर्जुन देव चारण

सृजन की सर्जना ७

साक्षात्कार :

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त से प्रो. बहादुर सिंह परमार

लोक साहित्य राष्ट्रीय है और राष्ट्र के साहित्य का अनिवार्य अंग १२

आलेख :

डॉ. हरिसिंह घोष

लोक साहित्य की व्याख्या और विश्लेषण में प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त का अवदान २१

डॉ. श्यामसुंदर दुबे

लोक-संस्कृति की सैद्धान्तिक व्याख्या और इतिहास-लेखन में डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त का अवदान ३१

बसन्त निरगुणे

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त बुंदेली लोककलाओं के बहाने ३६

बलभद्र तिवारी

संस्कृति की अष्टकोणीय परिवीक्षा : बुंदेलखण्ड की लोक-संस्कृति का इतिहास ३९

फोकस : लोक समय में मृत्यु

संकलन एवं काव्यानुवाद : नर्मदा प्रसाद गुप्त

नश्वरता ४१

मृत्यु ४२

अंत्येष्टि गीत ४२

मृत्यु-क्षण ४३

चन्द्रशेखर दुबे

मालवा के कुछ मृत्यु-गीत ४४

डॉ. चन्द्रेश्वर कर्ण

उराँव जनजाति के मृत्यु-संस्कार ४६

डॉ. वीरेन्द्र कुमार सिंह

अरुणाचली जनजातियों की मृत्यु विषयक अवधारणा ५७

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रो. जगमल सिंह
मणिपुरी मृत्यु गीत ६१

समीक्षा लोक :
नवल किशोर
तीन पुस्तकें ६४

राघव आलोक
पहाड़ के जलते शरीरः अनुभवों का जीवंत दस्तावेज ६८

रिपोर्ट :
लोकानुरंजन मेला ७१

चिट्ठियां ७७

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथा कुछ ऐसे चलती है- वह गर्मियों की रात थी- जुलाई की स्वच्छ, उजली रात। दो देवदूत आकाश में तारों से पोलो का खेल खेल रहे थे। सहसा एक देवदूत ने अपनी छड़ी इतनी जोर से चलाई कि दो तारे आकाश से छिटककर लुढ़कते हुए धरती पर चले आए और वहीं अँधेरे में लोप हो गए। दूसरी रात जब ईश्वर ने तारों की गिनती की, तो पाया कि दो तारे कम हैं। उस देवदूत को बुलाया गया, जिसने तारों को फेंका था। उसने अपना अपराध स्वीकार किया। ईश्वर ने उसे सजा दी, कि जब तक वह भू-लोक से उन तारों की खोज कर नहीं लाएगा, उसे वापस नक्षत्र लोक में नहीं आने दिया जाएगा। बेचारा देवदूत बरसों दुनिया के नगरों, गाँवों के चक्कर लगाता रहा, कोई गली, चौराहा, घर ऐसा नहीं था, जहाँ उसने पता न लगाया हो, किन्तु वे दो तारे कहीं दिखाई नहीं दिए। एक शाम थका-माँदा जब वह एक पुराने शहर की गली से गुजर रहा था कि उसे एक मकान की खिड़की दिखाई दी- भीतर कमरे में टेबुल-लैंप जल रहा था और एक बहुत सुंदर लड़की एक पुरुष के साथ बैठी थी और पियानो बजा रही थी। अचानक लड़की ने आँखें ऊपर उठाई, और देवदूत के पाँव रुक गए। उसका दिल खुशी से धड़कने लगा।। लड़की की आँखों में उसके दोनों खोए हुए तारे चमक रहे थे। उसने दौड़कर घर का दरवाजा खटखटाया। लड़की ने देखा कोई बाहर खड़ा है। उसे भीतर बुलाकर आने का कारण पूछा- देवदूत ने उसे सारी आपबीती सुना दी- कैसे वह इतने वर्षों से अपने खोए हुए तारों को खोज रहा था, जो उसे आज उसकी आँखों में दिखाई दिए हैं- आपकी बड़ी कृपा होगी, उसने कहा, यदि आप उसे वापस लौटा दें। लड़की के चेहरे पर एक रहस्यमय मुस्कान चली आई, उसने कोमल स्वर में पूछा- क्या तुम्हें पक्का विश्वास है, कि वे तारे मेरी आँखों में ही हैं? जी, मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं, देवदूत ने कहा। जरा ध्यान से मेरी आँखों में देखो, लड़की ने कहा, फिर अपना निर्णय दो। देवदूत एकटक उसकी आँखों को देखता रहा, फिर उसने एक लम्बी सर्द साँस खींचते हुए हताशा में सिर हिलाया- मुझे माफ कीजिए, मुझसे चुक हुई- मेरे तारे चमकीले जरूर थे, किन्तु इतने नहीं जितनी आपकी आँखें हैं- यह कहकर वह भारी कदमों से बाहर चला आया। वह पुरुष जो उसका पति था और सब सुन रहा था, देवदूत के जाने के बाद उसने हँसकर कहा- कोई पागल था, जो तारों को तुम्हारी आँखों में ढूँढ़ रहा था। लड़की ने उदास धीमे स्वर में कहा- नहीं, वह सच कह रहा था। बहुत साल पहले ऐसी ही जुलाई की रात थी, मैं पियानो के सामने बैठी थी। अचानक खिड़की से दो तारे भीतर आए और मेरी आँखों में समा गए। लेकिन वह देवदूत - - आदमी ने कुछ आश्चर्य से कहा- वह तो कह रहा था कि तुम्हारी आँखें उसके तारों से कहीं ज्यादा प्रकाशमान हैं। शायद इसलिए- लड़की ने कुछ सोचते हुए कहा- कि जब वह मेरी आँखों को देख रहा था, मैं उस घड़ी को याद कर रही थी, जब पहली बार तुमने मुझसे प्रेम किया था।

-निर्मल वर्मा

(संदर्भः एक फ्रांसीसी लोककथा)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्जुन देव चारण

सृजन की सर्जना

किसी रचना में वह क्या है जिसे रचनाकार अपना कहता है, कथा? विचार? दर्शन? भाव? या इन सब का सम्मिलित रुप? या भाषा का कोई खास स्वरूप? या वह संवेदन जो उस रचना के माध्यम से पाठक तक पहुँचता है, इस संवेदना में ही रसानुभूति छुपी हुई होती है, संवेदन ही रचना एवं रचनाकार के रिश्ते को समझाता है- प्रत्येक रचना के मूल में उस संवेदन का बीज स्पष्ट दिखाई देता है। तब यह भी समझ में आ सकता है कि किसी रचना में मौलिक क्या होता है। जब किसी लोक-रचना को कोई रचनाकार अपनी सर्जना का हिस्सा बनाता है तब क्या वह रचना वही रहती है? लोक रचना तो समष्टि की सम्पत्ति होती है किन्तु जब वह व्यष्टि के अधिकार क्षेत्र में आती है तब यह खोजबीन रोचक हो सकती है कि उस समष्टि का हिस्सा कितना-क्या है और वह हिस्सा सहज है या आरोपित।

लोक कथाओं के क्षेत्र में पहुंचने पर हमें ऐसे कई सवालों से रुबरू होना पड़ता है। किसी भी लोककथा को लिखने की दृष्टि से दो अलग-अलग तरीके काम में लिये जा सकते हैं। पहला तरीका तो यह कि जो बोला गया उसे उसी क्रम में एवं उसी रूप में हूबहू लिख लिया जाय। लोककथा को संकलित करने वाले कई विद्वान ऐसा करते भी हैं, दूसरा तरीका यह है कि जो कथा कही गई उसे सुनकर उसके नोट्स ले लिये जाय और फिर अपनी स्मृति से उसे पुनः लिखा जाय, ये दोनों ही तरीके लोक कथाओं को समझने की दो भिन्न प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करते हैं। पहला तरीका जहाँ उसके भाषा वैज्ञानिक अध्ययन पर जोर देगा वहीं दूसरा तरीका लोक कथा की शैली एवं शिल्प को समझने की दृष्टि पैदा करेगा, किन्तु इन दोनों ही तरीकों की अपनी सीमाएं हैं, दोनों ही जगह जोर 'लिखने' पर अधिक है 'रचने' पर कम ऐसी स्थिति में ये दोनों ही तरीके एक परम्परा को रुढि में ढालने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग यह मानकर चलते हैं कि इन रचनाओं में किसी भी तरह का फेरबदल इनकी पवित्रता को नष्ट कर देगा। ऐसे लोग नैतिकता का प्रश्न उठाने लगते हैं कि लोककथा के साथ किसी किस्म की छेड़खानी वस्तुतः रचनात्मक अनैतिकता है। यह उनकी दृष्टि का दोष हो सकता है।

लोक साहित्य तो समूह की अभिव्यक्ति माना जाता है, किन्तु प्रश्न यह है कि समूह का अर्थ क्या है? क्या उसे हजार-पांच सौ लोग इकट्ठा होकर लिखते हैं? लोक साहित्य का सृजन करने वाला निश्चित रूप से पहले पहल तो कोई एक व्यक्ति ही होता है किन्तु जब उसके सृजन को समाज अपना सत्य मान स्वीकार कर लेता है, समाज जब उसके साथ अपनी अंतरंगता स्थापित कर लेता है तब धीरे-धीरे वह व्यक्ति की रचना से समूह की रचना बन जाती है। इसी प्रक्रिया में उसके नाम का लोप भी हो जाता है। मैं अपनी बात को पुष्ट करने के लिए दो उदाहरण देना चाहूंगा जो इस आधुनिक युग में घटित हुए हैं। पहला उदाहरण है श्री कन्हैयालाल सेठिया की रचना 'धरती धोरा री' और दूसरा उदाहरण है श्री रेवतदान चारण की रचना "तू है बाजूड़ा री लूंब" आज ये दोनों ही रचनाएं लोकगीतों की श्रेणी में स्वीकार की जाती हैं। आकाशवाणी और दूरदर्शन भी इन रचनाओं को लोकगीत के नाम से प्रसारित करते हैं। यह है किसी व्यक्ति की अभिव्यक्ति का समूह की अभिव्यक्ति में ढ़लना। समूह की अभिव्यक्ति को एक दूसरे तरीके से भी समझा जा सकता है, जो रचना युगों युगों से असंख्य पीढ़ियों का सत्य बनकर जीवित रहती है और जिसे अपने होने को प्रमाणित करने के लिए किसी लिपिबद्ध स्वरूप की आवश्यकता नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पड़ती। वह तो समाज के कंठ में निवास करती है। यह कंठ में निवास करना आसान नहीं है उसके लिए उस रचना से अत्यन्त कठोर अनुशासन की अपेक्षा की जाती है। यह अनुशासन उसे बांधता नहीं वरन् मुक्त करता है वह किसी भी प्रकार के पूर्व निर्धारित स्वरूप से मुक्त हो जाती है। हर पीढ़ी उस रचना में अपने समय को बांधती है, समय के सनातन स्वरूप का उजास जिस रचना को आलोकित करे वही लोक रचना बनने की क्षमता रखती है। अलग-अलग युगों में अलग-अलग पीढ़ियां जब उस रचना में अपने समय को बांधती हैं तब वे अपने अपने जीवन के निशान भी उकेर देती हैं। रूपान्तरण की यह प्रक्रिया इतनी सहज और सरल होती है कि वह उसकी अनिवार्यता लगती है, इस प्रकार वह एक सुदीर्घ परम्परा का हिस्सा बन जाती है और इसीलिए वह समूह की अभिव्यक्ति कहलाती है।

जब कोई रचनाकार ऐसी किसी रचना को अपने सृजन का आधार बनाता है, तब वह क्या 'रचता' है, जिसे वह अपना कहता है? असल में वह किसी ऐसे सत्य का व्यंजित करने की कोशिश करता है जो उससे पहले उस रचना से व्यंजित नहीं हुआ था, इस तरह से वो उसके अर्थ को विस्तार देने की कोशिश करता है। यह अर्थ विस्तार उस रचना को रूढ़ि में ढलने से रोकता है। यह उसे समय के दबाव से मुक्त करना है, कालीदास का अभिज्ञान शाकुंतलम्, तुलसीदास का रामचरितमानस, भास, बाण या भवभूति की कई रचनाएं, के. एम. मुंशी का कृष्णावतरा शिवाजी सावंत का मृत्युंजय, भैरप्पा का पर्व, नन्दकिशोर आचार्य का देहान्तर या हस्तिनापुर, सत्यप्रकाश जोशी की राधा या बाल भारमली, गिरीश कर्नाड का ययाति, हयवदन या नागमंडल, नारायणसिंह भाटी की मीरां या दुर्गादास या इसी तरह की रची हुई असंख्य रचनाओं में क्या है जो इन रचनाकारों का अपना है- मौलिक है, यदि हम तुलसीदास के रामचरित मानस को, यह जानते हुए भी कि वह वाल्मिकी की रामायण की ही कथा है, एक मौलिक रचना स्वीकार कर लेते हैं, तो उसके पीछे कौन से कारण काम करते हैं? हम इन रचनाकारों से उनकी इन रचनाओं पर उनके अधिकार को लेकर कभी सवाल नहीं उठाते-क्यों? वह कौनसी दोहरी मानसिकता है जो भगवानसिंह के 'अपने अपने राम' को तो श्रेष्ठ मानती है- मौलिक मानती है और विजयदान देथा से लोक सम्पदा की मिल्कियत का प्रश्न पूछती है? यदि 'अपने अपने राम' कथा होते हुए भी अपनी व्याख्या में राम को एक नये रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश के कारण मौलिक है, तब 'दुविधा' की बहू, 'खातीलो चोर' का चोर, 'दोवड़ी जूण' की बीजां तीजां या उनकी कथाओं के ऐसे ही दूसरे पात्रों का एक नया रूप, एक नया अर्थ, एक नई व्याख्या प्रस्तुत करने पर उन्हें कठघरे में खड़ा करने की मंशा के पीछे कौन सी दृष्टि काम करती है, इसको समझने की जरूरत है, यदि एक क्षण के लिए यह मान लिया जाय कि विजयदान देथा का ऐसा करना अनैतिक है तो फिर उन्हें अनैतिक ठहराने वाला भी उतना ही अनैतिक कर्म में लिप्त माना जायेगा, जब वह एक ही समय में, एक ही स्थान पर समान कार्य के लिए दो अलग-अलग मापदण्ड प्रयुक्त करता है।

विजयदान देथा की रचनाओं में कहानी के कहने, लिखने और रचने के तीनों रूप मौजूद हैं, ये रूप जहां विजयदान देथा के रचनाकर्म की विकास यात्रा को दर्शाते हैं वहीं राजस्थानी कहानी-यात्रा के निशान भी दिखाते हैं, विजयदान देथा हिन्दी से राजस्थानी के क्षेत्र में आए। लोककथा के क्षेत्र में कार्य शुरू करने से पहले वे हिन्दी में कई कहानियां लिख चुके थे, जिनके कुछ रूप राजस्थानी में वर्षों बाद 'अलेखू हिटलर' नामक पुस्तक में पुनः प्रकाशित भी हुए हैं। हिन्दी से आने के कारण उनके पास कहानी के निमित्त पाश्चात्य दृष्टि की जानकारी भी औरों की अपेक्षा अधिक थी, किन्तु लोककथा के क्षेत्र में पहुंचने पर उन्हें अपनी इस जानकारी को त्यागना पड़ा। 'वाणी' के प्रारम्भिक अंकों में, "अंकल सरीरा उपजै" जैसी पुस्तकों में और 'बांता री फुलवाड़ी' के शुरुआती दौर में वे सुनी हुई कथा को ज्यों का त्यों लिखने की कोशिश करते लगते हैं, इस दौर में उनका ध्यान कहानी से अधिक भाषा की बुनगट पर है। यह उनके रचनाकर्म का पहला स्तर है, अपने इस प्रयास में वे राजस्थानी गद्य की सृजनात्मक क्षमता को अपने पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं, इसके अगले चरण में वे अपने द्वारा अर्जित इस सृजनात्मक गद्य के बल पर राजस्थानी को कुछ लम्बी कथाएं सौंपते हैं। इन कथाओं को उन्होंने औपन्यासिक कलेवर देने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की कोशिश भी की है और उसमें कहीं वे सफल हुए हैं तो कहीं चुके भी हैं। तीडो सब, मां सौ बदकौ, आठ राजकवर और इष्टू खां इत्यादि ऐसी ही रचनाएं हैं, इन रचनाओं में राजस्थानी गद्य का टकसाली रूप सामने आता है, यहाँ विजयदान देथा कहानी को 'कहने' से 'लिखने' के स्तर तक पहुंचाते हैं। इन रचनाओं को पढ़ने पर कहानीकार का कहानी के निमित्त धारण किया विश्वास भी पाठक तक पहुंचता है किन्तु कहानी का 'रचाव' अभी बाकी है, यह 'रचने' का दौर तीसरा दौर है, इस दौर में लोककथा के आवरण में विजयदान देथा ने कई स्वप्न कथाएं रचीं, खंतीलौ चौर, दुविधा, दोवड़ी जूण, रस कस दिवलौ बलै, कांचली, असमान जोगी, नुवौ जलम, आदमखोर और उलझन जैसी कथाएं लोककथा के वेश में रची हुई फैंटेसी के ही न्यारे न्यारे रूप हैं, ये कथाएं उतनी ही मौलिक हैं जितनी रामचरितमानस, मृत्युंजय या पर्व, इन रचनाओं के माध्यम से रचनाकार अपने पाठकों के सामने उस अर्थ को उद्घाटित करता है जो इससे पहले वह रचना अभिव्यक्त नहीं कर पाई थी यह अर्थ का विस्तार एवं सत्य के सनातन स्वरूप की पहचान के लिए रचनाकार की तड़फ इन रचनाओं को मौलिक रचनाएं एवं उसके सृजनहार को मौलिक रचयिता की पहचान देते हैं।

विजयदान देथा का सबसे बड़ा योगदान यही है कि वह लोककथा के मौन को तोड़ता है। राजस्थानी गद्य को एक परिपक्व रूप देने की उनकी कोशिश भी महत्वपूर्ण है किन्तु किसी रचनाकार का ध्येय भाषा का निर्माण करना कम होता है। उसकी पहली अनिवार्यता भाशाा का 'रचाव' ही रहता है और भाषा का रचाव बिना रचना के संभव नहीं हो पाता। जड़ाऊ भाषा में लोककथा को बांधने का काम अपने अपने तरीके से विजयदान देथा के साथ वाले कुछ दूसर लोग कर भी रहे थे किन्तु उनकी एप्रोच एवं विधा को संरक्षित करने तक ही सीमित रही विजयदान देथा ने उसे सांसे दी और कथा प्ररातत्व की वस्तु बनने से बच गई, वह धड़कने लगी आधुनिक युग ने उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखा, इसीलिए सांवर दइया कहते हैं-

वातां री फुलवाड़ी रै जरियै अठै रै समाज अर जीवण री अंडी पड़ताल हुई है, आ पड़ताल करती जगत वां पात्रां रै जरियै विजयदान देथा आपरी प्रगतिशील दीठ री ओलखांड कराई, अठै रै सेठ साहूकारां- ठाकरां री कड़ अर गूंग जिनरौ आधार उणरौ पद अर पर्दसौं हो- रै सांम्है आपरै पसैवे री कमाई खावणियै नै अयौ करण रौ काम उणा करियौ। अठै रै इतिहास में खड़कती तलवांरा, कड़क्ती ललकारां अर बलबलती झालां में होयी जती कंचन सरीसी काया वालां है गुणगान री कथावां लिखण री ठौड विजयदान देथा जिका पात्र जीवण जुद्ध में जूंझतै लोगां रै रूप में सांम्ही लाया, वे कम महताऊ भी हैं, आं पात्रां इ जरियै कहानी खातर नुंकी जमीन अर दीठ तैयार हुई।

अठै री धरती री वीर नारी रा बखांण करणवाला जिकी लुगाइयां नै सांम्है लाया वे पूत नै पालणैं में ई मरण रौ पाठ सिखावती, का पछै सैल धमोड़ा किम सह्या किम सह्या गज दंत जैड़ा सवाल पूछती, का पछै आंख हिये का सीस जैड़ी बातां रौ इचरज करती निगै आवती, पण आ बात किणी सूं छानी कोनी के आपणै अठै उण परिवेस में लुगाई री ठौड जूती पर बत्ती नीं ही। बातां री फुलवाड़ी में लुगाई ई आत्म सम्मान री जिकी बातां भी सांम्है आई है, वे बदलते जुग री वुंवी दीठ रौ सबूत है।

अपाँरै अठै शिक्षा री घोर कमी, बदलाव री गति ई साव मौली, अड़ै में जे अठै रै लोगां रै जीवण में अंधविश्वास रूढिवादिता, धर्म रै नांव माथै आडम्बर रो बोलबालौ हुवै तो इचरज री बात कांई, पण बातां री फुलवाड़ी में आं माथै करारी चौट हुवती दीसै। इणरै अलावा समाज रै नीचै ततबकै में गिएीजण बाली जातियां रै लोगां नै पैली दफे जीवतै जागतै रूप में अमा करण रौ जस उणानै ई है।

(उकरास -पेज ११)

विजयदान देथा की कलम का स्पर्श लोककथा अपने भेद खोलने लगी, ये मिडास टच कथा को एक नया रूप और नया अर्थ देता है। निरन्तर अभ्यास और विधा के प्रति गहरे लगाव के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कारण लोककथा का एक खास स्वरूप विजयदान देथा के हाथों सधा हुआ लगता है। यह विधा को साधना उस रचनाकार की उपलब्धि और सीमा दोनों को प्रकट करता है। विजयदान देथा को यह बात जान लेनी चाहिए।

विजयदान देथा पर लगने वाले आरोप स्वयं देथा द्वारा ही खड़े किये हुए हैं, उन पर सबसे बड़ा आरोप यही है कि उनका सम्पूर्ण कार्य लोकथा के संकलन का कार्य है, अतः उसे उनकी रचना कैसे माना जाए। इस बात को कहने वाले अपने पक्ष में स्वयं विजयदान देथा एवं कोमल कोठारी के बातां री फुलवाड़ी में छपे हुए सम्पादकीय को प्रस्तुत करते हैं। ये बयान उनकी जरूरत एवंमजबूरी दोनों थे। 'रूपायन संस्थान' को जिस परियोजना के लिए सरकारी मदद मिलती थी वह लोकसाहित्य के क्षेत्र में संकलन एवं प्रकाशन का कार्य ही था। इस मदद में व्यवधान न आए इसलिए छपने वाली पुस्तक के साथ ऐसी घोषणा जरूरी थी। प्रारम्भ में उन्होंने यह कार्य किया भी किंतु ज्यों-ज्यों वे गहरे उतरे उनकी सर्जना उनसे दूसरी मांग करने लगी। इस उलझन में उनके सामने एक ही रास्ता बचा हुआ था। घोषणा तो संकलन की करो और कार्य अपनी मर्जी का करो, उनके सृजन को नकारने वाले आज तक उनकी कही हुई पुरानी बात को सत्य मानते हैं और नई बातों को मानने से इन्कार करते हैं।

विजयदान देथा का लोककथा के क्षेत्र में योगदान क्या है? वह क्या चीज है जो विजयदान देथा को किसी लोककथा को अपना सृजन कहने के लिए बाध्य करती है? राजस्थानी साहित्य के क्षेत्र में यह गलतफहमी फैली हुई है कि विजयदान देथा तो सिर्फ लोककथा को अपने शब्दों का वेश धारण करवाते हैं इसलिए वह उनका सृजन कैसे हो सकता है। वस्तुतः यह सत्य नहीं है। मैं कुछ उदाहरण देकर यह बताना चाहूंगा कि लोककथा का यह सृजन विजयदान देथा के नाम क्यों लिखा जाए। उनकी एक प्रसिद्ध कथा है 'दुविधा' असल में यह कथा एक दिन छोड़कर एक दिन अपने वाले बुखार, जिसे राजस्थान में 'इकातंरे रो ताव' कहा जाता है, को उतारने के लिए सुनाई जाने वाली कथा है और अपने मूल रूप में वह एक अनुष्ठान का हिस्सा है, उस अनुष्ठान में उसका वह रूप नहीं है जो विजयदान देथा की 'दुविधा' में मिलता है। अनुष्ठान कथा में सेठ की पुत्रवधु को भूत लग जाता है और भूत के उतरने की घटना के बाद यह कामना की जाती है कि जैसे भूत पुत्रवधु को छोड़कर गया वैसे ही बुखार बीमार को छोड़ कर जाए किन्तु जब विजयदान देथा जब इस इस कथा का सृजन करते हैं तब वह कथा स्त्री जाति की सबसे बड़ी दुविधा के रूप में प्रकट होती है। कथा में मोटिफ तो भूत वाला ही है किन्तु विजयदान देथा उसे बिल्कुल बदल देते हैं। इस कथा में व्यंजित सत्य अनुष्ठान कथा में कहीं नहीं मिलता। यह महल शब्दों का वेश धारण करवाना नहीं है और सह सृजन की सर्जना है। इस बदले हुए सृजन में विजयदान का सयम बोलता है, इस तरह वे दुविधा के सृजन से उसे पुनः लोक की सम्पत्ति बनाते हैं, वे एक रूढ रूप को गतिशील बनाते हैं लोक कथा की अनूठी पहचान होती है उसके चरित्रों का अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त होना किन्तु विजयदान देथा की इस कथा में मानव पात्रों की दुविधा तौ प्रकट होती ही है उसके साथ भूत का अन्तर्द्वन्द्व भी सामने आता है। यह अद्‌भुत क्षण है जिसे कोई रिला ही रच सकता है, जहां अनुष्ठान कथा में भूत तक्लीफ देने वाला है यहां वह तक्लीफ मिटाने के लिए आता है। यह रूपान्तरण कथा के अर्थ को को विस्तार देता है और एक नयी दुनिया का द्वार अपने पाठकों के सामने खोलते हैं, क्योंकि ये सभी कथाएं स्वप्न कथाएं है इसलिए इनमें एक असंभाव्य संभावना की तलाश निरन्तर दिखाई देती है।

विजयदान देथा की ही एक दूसरी कथा 'झूंपड़ी रौ ज्ञान' का उदाहरण भी ले सकते हैं। अपने मूल रूप में यह कथा 'राजा भोज माघ पिडंत अर डोकरी री बात' शीर्षक से राजस्थानी बात संग्रह पृष्ठ संख्या १९४-१९५ पर संकलित है जिसे मनोहर शर्मा एवं श्रीलाल नथमल जोशी ने सम्पादित किया है और जो केन्द्रीय साहित्य अकादमी नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ है, कोई भी व्यक्ति विजयदान देथा की 'झूंपड़ी रौ ज्ञान' और उस कथा के अन्तर कौ देख सकता है, मूल कथा में राजा भोज और माघ पंडित शिकार खेलने जाते हैं और रास्ता भूल जाते हैं वहां उन्हें एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बुढ़िया मिलती है जो अपनी बातों से उन्हें निरुत्तर करती है, किन्तु विजयदान देथा की कथा तो शुरू ही इस मुद्दे से होती है कि ज्ञान का स्थान कहां है, राजा भोज के दरबार के सभी दरबारी एक स्वर से यह दोहराते हैं कि इस दरबार के अलावा ज्ञान का और कहां हो सकता है। विजयदान देथा यहीं से कहानी 'रचने' लगते हैं। उनका पूरा ध्यान इस बात पर है कि ज्ञान का ठेका राजा दरबारी या पंडितों ने नहीं ले रखा है वह तो साधारण जन के पास भी निवास करता है, अपनी इसी अवधारणा की स्थापना के लिए वे इस कथा में ऐसे प्रश्न भी उठाते हैं जो मूल कथा में नहीं है किन्तु जो इस युग की आवश्यकता है, इन प्रश्नों को इस रूप में पूछने की शायद इससे पहले आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई होगी। कहा जा सकता है कि ये प्रश्न अपने बहाने समय साक्ष्य दर्ज करवाते हैं और यही है विजयदान देथा का सृजन राजा भोज जब बुढिया से कहता है कि हम तो ठग हैं तो बुढिया जवाब देती है कि ठग तो दो दूसरे ही हैं- एक ठाकुर और दूसरा साहूकार। बुढिया के रूप में यह समय ही है जो उत्तर दे रहा है जिसने ठाकुर और साहूकार की अनीति देखी है। इसी क्रम में यह कथा समाज में व्याप्त कुरीतियों की धज्जियां बिखरते हैं। राजा भोज जब कहता है कि हम तो झूठे हैं तो बुढिया कहती है झूठे तो दो दूसरे ही हैं एक संत और दूसरा नास्तिक दोनों अपने अज्ञान के बूते जनता को ज्ञान बांटने की कोशिश करते हैं। अपने इन प्रश्नो से विजयदान देथा भूल कथा में कहीं गई बातों को भी बदलते हैं इस परिवर्तन से शब्द तो बदले ही कथा का मंतव्य और उसका अर्थ भी बदल जाता है, अर्थ में परिवर्तन उसे आधुनिक युग-का हिस्सा बनाता है अपने कल्पना लोक से निकल कर कथा-यथार्थ में ढलने लगती है अबोली लोककथा को बुलवाना क्या कम योगदान है?

'खातीलौ चोर' में सत्य की प्रतिष्ठा के चोर का मरना या 'रिजक री मरजाद' में बहरुपिये का अपने कर्म की मर्यादा बनाये रखने के लिए मरना उतना ही सहज और सत्य है जितना रामायण में पित के कहने पर राम का बनवास स्वीकार करना। यह दो अलग-अलग युगों की सत्य को पकड़ने की कोशिश है। 'दोवड़ी जूण, की बीजां-तीजां मनुष्य के मन में छुपी आदिम ईच्छा को अपने तरीके से व्याख्यायित करती है। कथा के अन्त में बीजां का पुनः नारी रूप स्वीकार करना एक विराट सत्य को व्यंजित करता है। विजयदान देथा की ये सभी कथाएं मनुष्य के 'मनुष्य' बने रहने में उने वाली दुविधा की कहानियां हैं। दुविधा इसलिए है कि चौरतफा परिवेश उसे या तो भगवान बनाने की कोशिश करता है या शैतान बनाने की, किन्तु इन कथाओं के पात्र 'मनुष्य' बने रहना चाहते हैं। इस 'मनुष्य' रूप की प्रतिष्ठा के लिए उन्हें कितना कुछ झेलना पड़ता है, ये कथाएं उस पीड़ा को और उस पीड़ा को झेल खुश होते बढ़ाती है वह उसे तोड़ती नहीं है- जोड़ती है अपने द्वारा अर्जित सत्य पर उसके पात्रों का विश्वास बढ़ जाता है सत्य कैसा? मनुष्यता का सत्य, इस तरह से ये कथाएं सत्य के सनातन स्वरूप की स्थापना की कथाएं हैं। आधुनिक युग की इस अंधी दौड़ में किसे परवाह है सत्य के सनातन स्वरूप की? शायद इसीलिए ये कथाएं लोगों को किसी दूसरे 'लोक' की कथाएं लगती हैं। इस गलाकाटू माहौल में मनुष्य के पवित्र रूप की संभावना हमेशा असंभव ही लगती है। मैं इसीलिए इन्हें असंभाव्य संभावना की तलाश करता हूं। विजयदान देथा अपनी इन कथाओं के माध्यम से समाज को आने वाले खतरे की चेतावनी देना चाहते हैं किन्तु लगता है यह युग उस चेतावनी को अनसुना कर उसय बांसुरी वाले के पीछे भागा जा रहा है और अतंतोगत्वा इस समाज का वही हाल होना है जो स्वयं विजयदान देथा की कथा आदमखोर से सामने आता है। 'आदमखोर' कथा का सत्य मूर्त रूप धारण न करले, यह चिन्ता पूरे मनुष्य जीवन की चिन्ता होनी चाहिए तब ही ऐसी कृतिटों का रचा जाना अपने रचाव की सार्थकता साहिल कर पायेगा= *(क्रमशः)*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साक्षात्कार

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त से प्रो. बहादुर सिंह परमार

लोकसाहित्य राष्ट्रीय है और राष्ट्र के साहित्य का अनिवार्य अंग

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त देश के उन विशिष्ट साहित्यकारों में अग्रगण्य हैं, जिन्होंने लोकसाहित्य तथा लोकसंस्कृति की धड़कन को पहचान कर, उसे नए प्रतिमानों से जाँचापरखा है। लोकसाहित्य, लोकमानस तथा लोकसंस्कृति का प्रतिबिम्ब होता है। डॉ. गुप्त ने लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति का गहन अध्ययन करके रूढ़िगत भ्रान्तियों को दूर कर नई व्याख्याएँ और मान्यताएँ स्थापित की हैं। इसके साथ ही लोकसाहित्य एवं लोकसंस्कृति को परखने के लिए लोक-आधारित नये आलोचना-उपमानों को गढ़कर इन्होंने बुंदेली लोकसाहित्य एवं संस्कृति को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया है। लोकसाहित्य के अनछुए पहलुओं को उजागर करने में सतत् संलग्न रहने वाले डॉ. गुप्त छियासठ वर्ष की आयु में अभी भी दिन-रात अपनी लेखनी का उपयोग कर रचनाशीलता में निरत हैं।

गुप्त जी, आप पहले कविता, कहानी और उपन्यास तथा साहित्यिक समीक्षा के प्रति लगाव रखते थे, बाद में लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति की ओर कैसे प्रवृत्त हुए? इस परिवर्तन के पीछे क्या कोई खास कारण है या किसी विशिष्ट व्यक्तित्व की प्रेरणा?

इस संबंध में पहली बात यह है कि मैंने लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति का कार्य करते हुए भी कहानियाँ और कविताएँ लिखी हैं। मध्यप्रदेश की प्रमुख पत्रिका- "साक्षात्कार" में पहले कविताएँ निकली थी, फिर लेख प्रकाशित हुआ। (१९९५-९६ ई.) "मधुमती", राजस्थान साहित्य अकादमी की मुखपत्रिका में मेरे दो लेख- "साहित्य का प्रजातंत्र", तथा "गाँव के लिए साहित्य" मुखलेख के रूप में निकले, जिनकी प्रतिक्रियाएँ प्रशंसात्मक टिप्पणियों की तरह छपीं। हरियाणा साहित्य अकादमी की पत्रिका "हरिगंधा" में कहानी (अभिशप्त), उ. प्र. हिन्दी संस्थान की पत्रिकाएँ "साहित्य-भारती" तथा "अतएव" के अंकों में एक-एक लेख प्रकाशित हुए। लोकसाहित्य के साथ परिनिष्ठित साहित्य की रचनाएँ होती रही हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। बुंदेलखण्ड के साहित्य, कला और संस्कृति को प्रकाश में लाने का अनुष्ठान है, धीरे-धीरे पूरा होगा।

निश्चित ही पूरा होगा। आप तीन दशकों से लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति का गहन अध्ययन करते रहे हैं और आपने रूढ़िगत भ्रान्तियों को दूर कर नयी व्याख्याएँ और मान्यताएँ स्थापित की हैं। आज हम उनके विविध आयामों पर चर्चा करेंगे। सबसे पहले आप यह बताएँ कि लोकसाहित्य में अध्येता को "लोक" की समझ के लिए किन तथ्यों को दृष्टि में रखना-जरूरी है।

पहले यह समझना आवश्यक है कि "लोक" शब्द "फोक" का पर्याय नहीं हैं। भारतीय वाङ्गमय में उसका प्रयोग बहुत पुराना है। वेद और लोक, दोनों के अंतर से परिचित होने के कारण स्पष्ट है कि भारतीय लोक के प्रति सचेत रहे हैं। महर्षि व्यास ने लिखा है कि "प्रत्यदक्षर्शी

१ जनवरी, १९३१ को महोबा, उ. प्र. में जनमें, बुंदेलखण्ड अंचल के समर्थ इतिहासकार, रचनाकार तथा वरिष्ठ लोक-मर्मज्ञ डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त से प्रो. बहादुर सिंह परमार की लोकसाहित्य एवं लोकसंस्कृति पर केन्द्रित बातचीत।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः" अर्थात् लोक को प्रत्यक्ष रूप में देखने वाला व्यक्ति सर्वदर्शी होता है। उनका "प्रत्यदक्षर्शी" शब्द काफी महत्व का और अर्थगर्भी है।

लोक की समझ के लिए "लोकत्व" का सही ज्ञान जरूरी है। डॉ. सत्येन्द्र उसे "लोकमानस" कहते हैं और लोकमानस को "आदिम रूढ़ मूल मानस" मानते हैं। लेकिन लोक को आदिम मानस का पर्याय मानना उचित नहीं हैं। लोक में उपयोगी अतीत, वर्तमान और भविष्य का समन्वित रूप रहता है मैं लोक से तात्पर्य उस लोकमानस से मानता हूँ, जो सहज और प्रकृति मानसिक वृत्तियों की पुंजीभूत इकाई है। सहज और प्रकृत का अर्थ आदिम न होकर आज तक विद्यमान उस सर्वकालिक रूप से है, जो भिन्न-भिन्न युगों की चेतना को आत्मसात तो करता है, पर उनके कृत्रिम प्रभावों से अछुता रहता है।

अभी आपने जिस सहज और प्रकृत लोकमानस की बात कही है, वह तो लोक की अमूर्त व्याख्या है। क्या कोई ऐसे विशिष्ट तत्त्व हैं, जिनसे लोक साकार हो सकता है?

लोक के सैद्धान्तिक या आंतरिक व्यक्तित्त्व में लोकदर्शन, लोकधर्म, लोकमूल्य, और लोकविश्वास का समुच्चय होता है, जबकि व्यावहारिक या बाह्य व्यक्तित्व में भोजन पेय, वस्त्राभरण, लोकाचार, लोकरंजन, लोकोत्सव आदि लोकाचरण के सभी अंग आते हैं। अधिक स्पष्ट करें तो लोकदर्शन में सभी दर्शन, लोकधर्म में सभी धर्म और लोकमूल्य में सभी उपयोगी मूल्य व्याप्त हैं। तात्पर्य यह है कि किसी विशिष्ट दर्शन, धर्म, और मूल्य का आग्रह नहीं होता, वरन् लोक उन विशेषों से लोकोपयोगी तत्वों का चयन कर लेता है। लोकाचार लोकसंस्कारों, लोकरीतियों, लोकप्रथाओं और लोकवर्जनाओं के समुच्चय होते हैं। दोनों को मिलाकर लोक की अस्मिता बनती है।

लोक ग्राम में है और नगर में भी। हर समुदाय और वर्ग में है। जिस मन में लोकधर्मी चेतना है, उस लोकमन में है और जिस हृदय में लोकधर्मी भाव हैं, उस लोकहृदय में भी हैं। हर लोक एक अखण्ड इकाई है, जिसका अपना लोकचिंतन है और अपना लोकाचरण। उसकी अपनी लोकसंस्कृति, लोकभाषा, लोकसाहित्य और लोककला है। इन सबमें आंतरिक एकता ही ठोस आधार है। असल में, लोक के पीछे एक आंतरिक लोक है, जिसे आप लोकमन या लोकमानस कह सकते हैं। लोक में परिवर्तन होता है, तो लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य भी बदलते हैं। विजातीय संस्कृति के हमले से लोक में रक्षा और संघर्ष की प्रवृत्तियाँ पनपती हैं, जो लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। ऐसे लोक की सीमा-परिधि जहाँ एक जनपद है, वहाँ कई जनपदों से बना प्रदेश या राष्ट्र भी है।

गुप्त जी, लोकसाहित्य पर आपने नयी तरह का कार्य किया है। उसके संकलन से समीक्षा-लेखक तक। सबसे पहले आप यह बतायें कि नवीनता किन-किन क्षेत्रों अथवा रूपों में है?

पहली नयी बात थी लोकगीतों, लोकगाथाओं आदि के पाठ-सम्पादन की। एक लोकगीत के तीन पाठ हैं, तो उनमें सम्पादन कर एक प्रामाणिक पाठ तैयार करना। दूसरी नवीनता है लोक, लोकसाहित्य, लोकसंस्कृति और लोककला की सैद्धान्तिक व्याख्या। तीसरी नवीनता काल-निर्धारण हैं, जिसमें हर क्षेत्र से एक-न-एक संकेत उसकी आयु का निर्धारण करता है। लोकगीतों ओर लोकगाथाओं के हस्तलिखित पाठ भी मिलें हैं, जो उनके रचनाकारों का विवरण भी देते हैं। इस आधार पर लोकसाहित्य के रचयिता का पता चलता है और उसे व्यक्ति-रचित कहने में कोई हर्ज नहीं है। लोकसंस्कृति का इतिहास लिखा, जिससे यह सिद्ध हुआ कि लोकसंस्कृति गतिशील है। लोकदर्शन, लोकधर्म, लोकानुभूति, लोकाभिव्यक्ति, लोकभाव, लोकविवेक, लोककल्पना, लोकारस जैसे अनेक पारिभाषिक शब्दों की प्रतिष्ठा की। ऐसी कई नवीनताएँ चर्चा के दौरान भी उजागर होंगी।

फिर हम अपनी जिज्ञासा क्रमबद्ध कर लें और आपसे पूछें कि आपकी दृष्टि में लोकसाहित्य क्या है।

अध्ययन और अनुभव के बाद में इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि लोकसाहित्य लोकभाषा का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह साहित्य है, जो अपने अंतर्निहित लोकतत्व के कारण लोक द्वारा गृहीत हो गया हो और लोकमुख में जीवित हो।

आपकी इस परिभाषा में "लोकत्व" महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है, क्या रचना में लोकत्व होने से यह लोकसाहित्य बन जाती है? लोकत्व को समझाने का कष्ट करें।

रचनाकार जब सृजन में अनुभूति और अभिव्यक्ति, दोनों में लोकतत्वों को आत्मसात कर लेता है, तब वे दोनों लोकमयी होकर लोकानुभूति और लोकाभिव्यक्ति बन जाती हैं। सर्जक की सृजन में दोहरी भूमिका होती है। पहले वह सहृद्य की भूमिका में विषय के प्रति अपने अनुभव को लोक से जोड़कर लोकानुभव के रूप में ढाल लेता है। लोकात्व के कारण भाव, लोकभाव और रस, लोकरस बन जाता है। यही प्रक्रिया सर्जक की भूमिका में भी घटित होती है।

लोकानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट कर दें, तो. . .

लोकरचना का प्रधान तत्व है- लोकभाव और लोकभाव लोक के हर सदस्य के मन अर्थात् लोकमन की वस्तु है, किसी खास या असाधारण मन की नहीं। लोकमन सहज, अकृत्रिम और अनगढ़ होता है। मनोविज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकारता है कि हर सामान्य मानव के भाव-जगत में लोकधर्मी वृत्ति होती है, जो भाव को वैयक्तिक होने पर भी दूसरे तक पहुँचा देती है। भाव की लोकीकरण की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है और जो भाव जितना लोकीकृत होकर लोकभाव बन जाता है, वह उतना ही लोकमान्य होता है। उदाहरण के लिए कोई भी लोकगीत लिया जा सकता है। इतना और ध्यान में रखें कि लोकभाव में निज रागद्वेष से मुक्ति की झंझट नहीं रहती और साधारणीकरण तुरंत हो जाता है। ऐसी आनंदानुभूति को लोकरस कहना समुचित है।

लोकभाव का सहचर है लोकविवेक, जो लोकदर्शन, लोकधर्म, लोक मूल्यों के समन्वय से जन्म लेकर लोकभावों को अतिशय भावुकता से नियंत्रित रखता है और उन्हें व्यापकता का आधार देता है। लोककल्पना लोकानुभवों में से समुचित को चुनती है और उपमानादि अलंकरण की उपयुक्तता परखकर उनको सजाती है। जिस तरह लोकविवेक सामान्य और निरपेक्ष होता है, उसी तरह लोककल्पना का सहज रूप भी। लोकभाव, लोकविवेक और लोककल्पना, तीनों लोकसंवेदना के अंग ही हैं।

अभिव्यक्ति तो एक सी होती है, चाहे वह साहित्य की हो या लोकसाहित्य की?

लोकसाहित्य की अभिव्यक्ति यानी लोकाभिव्यक्ति में लोकतत्व प्रभावी होते हैं। वह सहज, सरल, अनायासित और अनगढ़ होती है। लोकभापा का मिठास और व्यंजकता, लोकोपमानों की सटीकता और ताजगी, लय की संगीतात्मकता और सहज गति तथा लोकशैली की सहजता और स्वच्छंदता, सब मिलकर उसे आदर्श अभिव्यक्ति बना देते हैं।

कुछ विद्वान लोकसाहित्य को लोकरचित मानते हैं, जबकि आपका विश्लेषण उसे स्वीकार नहीं करता। आप ही बताएँ कि लोकसाहित्य लोकरचित है अथवा व्यक्तिरचित?

कविता की रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से समूह द्वारा कविता का सृजन संभव नहीं माना जाता। यदि चार-पाँच सर्जक ही एक गीत की रचना करते हैं, तो उसमें एक विशिष्ट संवेदना की अभिव्यक्ति कठिन है। वस्तुतः कृति का सृजन एक व्यक्ति ही करता है, पर उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में लोकतत्व इतने असरदार होते हैं कि वह लोकोपयोगी होने से लोक द्वारा गृहीत हो जाती है और लोकमुख में आकर लोकप्रचलित होने पर कालांतर में सर्जक के नाम से जुड़ी नहीं रह पाती। यह प्रक्रिया इतनी सहज और अहेतुक होती है कि उस पर प्रश्न चि" नहीं लगाया जा सकता। रचनाकार की पहचान उसकी छाप या प्रामाणिक संग्रह के साक्ष्य से हो जाती है। दो तीन उदाहरण पर्याप्त हैं-

१. हिन्दी साहित्य के बृहत इतिहास भाग १६ (लोकसाहित्य) में स्व. कृष्णानंद गुप्त ने बुंदेली बारामासी लोकगीत के रूप में दी है, जो मुझे बारामासी-संग्रह की हस्तलिखित प्रति में कविवर "जगन्नाथ की बारामासी" नाम से प्राप्त हुई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२. लोकमुख में जीवित "गेंदलीला" का पाठ १८ वीं शती के कविवर प्रेमदास द्वारा रचित "गेंदलीला" के पाठ से मिलता-जुलता है। लोकप्रचलित पाठ में अश्लील लगने वाली दो पंक्तियाँ छोड़ दी गयी हैं, जिनमें कृष्ण गेंद की खोज के लिए राधा की चोली टटोलते हैं और जो लोकमर्यादा के विरुद्ध हैं।

३. बुंदेली के लोककवि ईसुरी की फागें आज भी लोकमुख में जीवित और लोकप्रचलित हैं।

कुछ उदाहरणों से कुछ लोकगीतों का रचना-काल निर्धारित करना तो संभव है, पर अधिकांश रचनाओं के रचनाकारों का पता नहीं चलता। इस कारण उनका काल-निर्धारण कठिन है। कुछ विद्वान उन्हें आदिम या काल से परे मानते हैं, लेकिन आपने काल-निर्धारण की स्थापना की है। उसकी संतुष्टि में आप यह बतायें कि काल-निर्धारण के आधार क्या है?

लोकगीतों या लोकसाहित्य का काल-निर्धारण उसकी लोकभाषा का रूप, ऐतिहासिक वस्तु या घटना, ऐतिहासिक पात्र, सांस्कृतिक शब्दावली आदि के आधार पर संभव है। हस्तलिखित ग्रंथ भी रचना-काल का संकेत कर देते हैं। यह अवश्य है कि काल-निर्धारण आदिकाल, मध्यकाल, पुनरुत्थान काल, आधुनिक काल जैसी स्थूल परिधियों में ही किया जा सकता है। लोकसाहित्य की रचना हर युग में हुई है। अकाल, स्वतन्त्रता-संग्राम, जैसी राष्ट्रीय घटनाओं, छत्रसाल, रानी लक्ष्मीबाई, गांधी जी जैसे राष्ट्रीय-संग्राम जैसे राष्ट्रीय व्यक्तित्वों और मँहगाई, दहेज, अनमेल विवाह, अंग्रेजी फैशन एवं अंग्रेजी भाषा जैसी राष्ट्रीय समस्याओं को केन्द्र में रखकर रचा गया लोकसाहित्य क्या आदिम या बहुत प्राचीन कहा जा सकता है। कोई भी साहित्य, जो लोकचेतना से जुड़कर रचा जाता है और लोकोपयोगी होता है, आदिम या स्थिर नहीं होता।

अक्सर लोकसाहित्य पर क्षेत्रवाद का आरोप मढ़ दिया जाता है, आपकी दृष्टि में क्या यह आरोप सही है?

अभी मैंने बताया कि जनपद के लोकसाहित्य में राष्ट्रीय व्यक्तियों, घटनाओं और समस्याओं का चित्रण मिलता है। जनपद के सुख-दुख देश के सुख-दुख हैं, इस तरह जनपद का लोकसाहित्य देश के लोकसाहित्य का अविभाज्य अंग है। जनपदों के लोकसाहित्य से ही राष्ट्र के लोकसाहित्य का स्वरूप बनता है। इस दृष्टि से लोकसाहित्य पर क्षेत्रवाद का आरोप उचित नहीं हैं।

कुछ विद्वान लोकसाहित्य को सामंती साहित्य कहते हैं और कुछ मात्र आदर्शवादी, आपका विचार. .?

लोकसाहित्य अर्थात् लोक का लोकोपयोगी एवं लोप्रचलित साहित्य, अब आप ही बताएँ कि वह किसी खास वर्ग का या सामंत वर्ग का कैसे हो सकता है। वह तो लोकतांत्रिक कहा जा सकता है लोक की जितनी आस्था आदर्शों के प्रति है, उतने आदर्शों के आलेखन लोकसाहित्य में हैं। इसी तरह लोकजीवन में जितना यथार्थ है, उतना ही लोकसाहित्य में है। शोषण की बानगी देखें-

चट्टिन चट्टिन बनिया लूटै, सोरा नार फिरंगी।
ठाकुर दोरें पंडा लूटैं, जात्री भये उदासी।।

जगन्नाथ स्वामी की पूजा के इस लोकगीत में बनिया और पण्डा की लूट के साथ फिरंगी (अंग्रेज) का शोषण भी शामिल कर दिया है। सोरा नार का अर्थ है- सोलह श्रृंगार किए हुए नारी।

आपने लोकगीतों, लोकगाथाओं, राछरों आदि का संकलन, सम्पादन और अनुवाद किया है। स्वरलिपियाँ और टिप्पणियाँ भी दी हैं। नया कार्य है, लेकिन आप यह बतायें कि सम्पादन की आवश्यकता क्यों हुई? कुछ विद्वान लोकसाहित्य जैसा है, वैसा ही रहने देना उचित समझते हैं।

आप ही बतायें कि एक लोकगीत के तीन पाठ हैं, जो सभी लोकप्रचलित हैं। उनमें से दो पाठों में किन्हीं कारणों से कोई शब्द या पंक्ति लोकगीत के संदर्भ में सही नहीं है और तीसरे पाठ में सही है, तो क्या तीसरे पाठ का यह शब्द या पंक्ति नहीं रखना चाहिए। एक उदाहरण मुझे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

याद है-

चंदा पै खैती करों, सूरज पै करों खरियान।
जोबन को बदरा करों, मोरे पिया पसर खों जाएँ।।

कई विद्वानों ने उक्त पाठ प्रकाशित किया है, लेकिन दूसरी पंक्ति में "पसर" से "बदरा' का मेल नहीं है। वास्तव में, "बरदा" (बैल) का "बदरा" (बादल) हो गया है, जबकि पसर चरने बैल जाते हैं और पति के साथ यौवन जाने की कामना करना पत्नी के लिए उचित है।

"बुंदेलखण्ड की लोकनाट्य परम्परा" पर आपने एक बृहत लेख लिखा है। आप यह बतायें कि बुंदेली जनपद का लोकप्रसिद्ध लोकनाट्य कौनसा है और उसकी प्रसिद्धि क्यों है?

इस जनपद का सबसे प्राचीन, लोकविख्यात और विशिष्ट लोकनाट्य स्वाँग है। उसमें सभी नाट्य तत्व मौजूद हैं, लेकिन वस्तु में विविधता,लोकजीवन की वास्तविकता का चित्रण, आधुनिक संदर्भों से जुड़ाव की अद्भुत क्षमता और व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति उसकी विशिष्ट विशेषताएँ हैं। सामाजिक कुरीतियों, आडम्बरों, विषमताओं आदि पर चुटीले व्यंग्य दर्शक को झकझोरते हैं। साथ ही बुंदेली स्वाँगों में नृत्य, गीत और अभिनय की त्रिवेणी प्रवाहित रहती है, जिसमें स्नात होकर दर्शक भावविभोर भी होता है। हिमाचल के "करियाला" में व्यंग्यों का वैविध्य और वैभव नहीं है और कश्मीर के "भाँढपथर" के व्यंग्य अंत में आदर्शपरक होने से यथार्थपरक नहीं है, जबकि बुंदेली स्वाँगों में अभिनयमूलकता और यथार्थपरक व्यंग्यात्मकता के कारण विशुद्ध स्वाँग की प्रतिष्ठा हुई है।

आपने बुंदेली लोककथाओं का भी संकलन किया है, उनमें कौन-सी विशेषता आपको सबसे अधिक आकर्षित करती है?

अब तक अप्रकाशित एक लोककथा है- मोंमिन के गुच्छा लैं चली, नाक चूमा दै चली"। उसमें एक राजकुमारी मर्दाना वेश बनाकर मर्दानगी की सारी परीक्षाएँ पार करती हुई कितनी ठसक से यह लिखकर जाती है कि "मोंतिन को गुच्छा लै चली. . ." नायिका की ठसक बुंदेलखण्ड की ठसकीली ठकुराइन जैसी है। यह ठसकीलापन बुंदेली लोककथा की खास पहचान है और यह ओजस्विता बुंदेलखण्डी स्वाभिमान और शौर्य की समन्वित उपज है।

आपके द्वारा बुंदेली लोकगाथाओं का संकलन-संपादन भी किया गया है, उनमें से कौन-सी गाथा आपको सर्वाधिक प्रभावित करती है. . .?

मुझे भीतर तक छू लेने वाली लोकगाथा है- "आल्हा", जिसमें उसकी ऊर्जा की तस्वीर दिखाई देती है, वीरता के उद्वेलन महसूस होते हैं और अपनेपन की रक्षा के लिए युद्ध स्तर पर कर्म करने की सीख मिलती है। आल्हा की हर गाथा में इतना असाधारण प्रभाव है कि वह हर युग की निराशा और अनास्था के विरुद्ध साहस और आस्था से स्फूर्त जीवनीशक्ति की प्रतीक बन गयी है। आल्हा का उदात्त व्यक्तित्व देशभक्ति, वीरता, और शांति के अद्भुत समन्वय से आभूषित है, जबकि ऊदल के उद्भट शौर्य की कोई उपमा नहीं। उनकी माता "देवलदे" की श्रेष्ठ और उदार देशभक्ति की तुलना में किसी स्त्री का उदाहरण नहीं मिलता।

मैंने चंदेलकाल के इतिहासग्रंथों का अध्ययन कर १९६० ई' में "आल्हा" उपन्यास की रचना की थी, जो १९६२ ई. में नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ने प्रकाशित किया था। छठवें दशक में ही मेरे दो लेख "मध्यप्रदेश संदेश" और "कादम्बिनी" में प्रकाशित हुए, फिर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना की "परिषद पत्रिका" में भी। सातवें दशक में आल्हा की विस्तृत समीक्षा लिखकर सिद्ध किया कि जगनिक हिन्दी का प्रथम कवि है। बुंदेली की महोबा, कन्नौजी, अवधी, भोजपुरी, आदि के पाठों की बानगी से आल्हा गाथा के मूल या उसके निकटीय बुंदेली पाठ देने की ललक मन में हैं। देखिए, कब दे पाता हूँ।

लोकसाहित्य में वर्तमान का पक्ष कितना है? रचनाशीलता और अनुभूति के रूप में? आज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की जटिल राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक संवेदना का वहन क्या लोकसाहित्य में संभव है?

लोकसाहित्य की रचना तो वर्तमान के लिए होती है, लेकिन उसकी लोकतत्वों से भरपूर लोकानुभूति कालखण्ड को लाँघकर कालजयी बन जाती है। संस्कारपरक गीत तब तक जीवित रहते हैं, जब तक संस्कार का रूप नहीं बदलता। विवाह के कुछ गीत अब सुनाई नहीं पड़ते। लोकसाहित्य लोक के लिए यानी आम आदमी के लिए होता है, अतएव उसमें जटिल और वैयक्तिक संवेदना के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

आज लोकसाहित्य की प्रासंगिकता क्या है? क्या लोकसाहित्य केवल संरक्षण की वस्तु है अथवा उसमें विकास भी हो रहा है?

लोकसाहित्य लोकोपयोगी होता है और यही उसकी प्रासंगिकता है। जो लोकोपयोगी नहीं रहता, वह गौण होकर धीरे-धीरे अदृश्य हो जाता है। लोकसाहित्य के संरक्षण का अर्थ है लुप्त होते लोकसाहित्य का संकलन। उसका उपयोग तत्कालीन परिस्थितियों में रची गयी रचनाओं का अध्ययन कर उचित निष्कर्षों पर पहुँचना है। लोकसाहित्य का सृजन बदली परिस्थितियों में होता रहता है, जैसे हरदौल बुंदेला की विषपान की घटना के बाद हरदौल-संबंधी गीत और गाथाएँ तथा अमानसिंह के बाद अमान के राछरे। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, बानपुर के मर्दनसिंह आदि के शहीद होने पर १८५७ ई. के बाद जुझारू लोकगीत प्रचलित हुए। इसी तरह गांधी, सुभाष, नेहरू, भगतसिंह आदि पर बीसवीं शती के चौथे-पाँचवें दशकों में लोकगीतों की रचना और प्रचलन होते रहे। महँगाई, दहेज, प्रदूषण आदि के संबंध में समस्यामूलक लोकगीत विकास के प्रमाणिक दस्तावेज हैं।

लोकसाहित्य के समाजशास्त्रीय पक्ष पर आपके विचार जानने के लिए उत्सुक हूँ, क्या इस दृष्टि से लोकसाहित्य का अध्ययन हुआ है?

मैं समझता हूँ कि लोकसाहित्य से आप भली भाँति परिचित हैं और यह जानते हैं कि लोकसाहित्य उस लोक का साहित्य है,जो किसी खास वर्ग का, खास विचारधारा का और खास सम्प्रदाय अथवा किसी खास विशिष्टता का समाज नहीं है। वह तो सामान्य आदमियों की सामान्य समाज है और ऐसी सामाजिकता का अध्ययन अवश्य हुआ है। समाजशास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर भी एक-दो विवेचनात्मक ग्रंथ उपलब्ध हैं, लेकिन अभी इस दिशा में गहराई से विश्लेषणपरक अनुशीलन की जरूरत है।

बुंदेली लोकसाहित्य की वर्तमान स्थिति पर भी प्रकाश डालने का कष्ट करें।

बुंदेली में आठवें दशक तक लोकगायकों ने लोककवियों के विरुद्ध लोकगीतों और लोकगाथाओं को अपनाकर अपनी पारम्परिक निष्ठा कायम रखी, पर नवें और दसवें दशकों में जनता और खासतौर से युवाओं के मनोरंजन के लिए द्विअर्थी अश्लील गीतों का प्रचलन कम हो गया है और उनके स्थान पर कुछ हिन्दी के अथवा हिन्दी बुंदेली-मिश्रित लोकगीतों का प्रवेश होने लगा। धार्मिक संस्कारों में अवश्य लोकगीतों का गायन, खासतौर से देवीगीतों का गायन एवं पुरानी लोकधुनों के आधार पर नये देवीगीतों का सृजन तथा प्रचलन होता रहा। बुंदेली लोककथाओं का सुनना-सुनाना कम हो गया और लोकनाट्यों, का मंचन भी उपेक्षित रहने को बाध्य है। इतना अवश्य है कि लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोककथाओं, लोकोक्तियों आदि का संकलन-प्रकाशन गतिशील रहा। लोकसाहित्य की विविध विधाओं का विवेचन निरंतर चलता रहा भावात्मक समीक्षाएँ अधिक लिखीं गयीं, फिर भी कुछ समीक्षकों ने लोक से जुड़कर लोकसमीक्षाएँ लिखीं। मेरे "लोकसाहित्य के इतिहास" में लोकसमीक्षा और लोकेतिहास को समान महत्व मिला है।

लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति के अंर्तसंबंध को स्पष्ट करने का कष्ट करें, क्या लोकसाहित्य लोकसंस्कृति के परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है?

लोकसाहित्य लोकसंस्कृति के चित्रों का एलबम है, जबकि लोकसंस्कृति तत्कालीन लोक की लोकमान्य संस्कृति है और लोकसाहित्य लोकसंस्कृति का एक अंग है। लोकसंस्कृति में लोक की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भागीदारी प्रत्यक्ष रूप में है, पर लोकसाहित्य में अप्रत्यक्ष रूप से ही लोक उत्तदरायी होता है। लोकसंस्कृति जैसी है, बहुत कुछ वैसा ही लोकसाहित्य होता है। लोकसाहित्य लोकसंस्कृति की रक्षा करता है, प्रचार-प्रसार में माध्यम बनता है और आवश्यकता के अनुसार एक सीमा तक बदलता भी है। लोक बदलता है, तो लोकसंस्कृति बदलती है और तदनुरूप लोकसाहित्य भी। लेकिन इस बदलाव की प्रक्रिया में लोकसाहित्य का कार्य परिवर्तन में सहायता करना भी है। इस प्रकार दोनों स्वतंत्र इकाई होते हुए भी परस्पर सहयोगी हैं और एक दूसरे पर निर्भर भी।

आपने लोकसंस्कृति के विवेचन में कुछ नये पारिभाषिक शब्द दिये हैं, जैसे लोकदर्शन, लोकधर्म, आदि। क्या लोकदर्शन और लोकधर्म का लोक में अस्तित्व है? यदि है, तो उन्हें कैसे दर्शाया जा सकता है? उनसे लोकसंस्कृति कहाँ तक प्रभावित होती हैं?

लोकदर्शन लोक का वह दर्शन है, जो विशिष्ट दर्शनों के लोकोपयोगी तत्वों से निर्मित होता है और उसका अदृश्य रूप लोकसाहित्य और लोककथाओं में प्रकट होता है। लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोकनाट्यों आदि से उसके तत्कालीन स्वरूप का पता चलता है। विशेपता यह है कि उसका कोई विशिष्ट दर्शन नहीं होता, वह विशिष्ट दर्शनों से लोक के द्वारा लोक के लिए लोकहित में चुना जाता है खास धर्म नहीं होता, उसके चयन और रूप-ग्रहण की प्रक्रिया भी वही है। उस लोकधर्म का स्वरूप भक्तिपरक लोकसाहित्य में मिलता है। लोकदर्शन, लोकधर्म, लोकमूल्य और लोकविश्वास मिलकर लोकसंस्कृति की लोकचिंतन-धारा बनाते हैं, जो लोकसंस्कृति गतिशील आत्मा है। इन चारों में लोकदर्शन चिंतन-धारा को उत्पन्न करता है, जबकि लोकधर्म उसे धारण यानी लोकजीवन में अवतरित करता है। दोनों के मेल से लोकचिंतन का लोकोपयोगी रूप गढ़ा जाता है, अतएव लोकसंस्कृति का भीतरी स्वरूप इसी लोकचिंतन से निर्मित है।

लोकसंस्कृति में परिवर्तन के लिए लोक की लोकचिंतन-धारा जिम्मेदार है या लोकाचरण? आपने बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति के इतिहास-लेखन में दोनों में से किसे आधार बनाया है?

दोनों। लोकसंस्कृति कथनी और करनी की संस्कृति है। जब लोकचिंतन लोकाचरण में बदल जाता है, तब ही परिवर्तन की प्रक्रिया का चक्र पूरा होता है। इसी वजह से इतिहास तलाशने में दोनों के प्रामाणिक साक्ष्य और लोकसाक्ष्य मूल आधार रहे हैं।

इतिहासकार लोकसाक्ष्य को प्रामाणिक नहीं मानतें, क्या लोकसाक्ष्य इतिहास-लेखन में सहायक हैं? यदि हैं, तो किस सीमा तक?

मैं इतिहासकारों से यह पूछना चाहता हूँ कि राजाओं के अपने बारे में लिखवाये गये अभिलेख प्रामाणिक हैं, पर मौखिक अथवा लिखित परम्परा में आया कोई तथ्य प्रामाणिक होगा, जबकि लोक द्वारा प्रमाणित लोकप्रमाण प्रामाणिक नहीं माना जाता। महोबा के मनियाँदेव को प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेण्ट स्मिथ ने मनियाँ देवी मानकर चंदेलों को हिन्दुआइज्ड गोंड ठहरा दिया है, जबकि वे मौखिक और लिखित परम्परा में माणिभद्र यक्ष सिद्ध होते हैं। इस लोकप्रमाण से इतिहास की बहुत महत्वपूर्ण भूल सुधरने का मार्ग प्रशस्त हो गया है।

मनियाँदेव की खोज पर कुछ कहना चाहेंगे?

मैं "आल्हा" संबंधी ऐतिहासिकता के लिए चंदेलों का इतिहास पढ़ रहा था। उसी संदर्भ में इतिहासकार विन्सेण्ट स्मिथ का मत समझने की कोशिश की, तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि "मनियाँदेव" नाम से प्रसिद्ध मूर्ति गोंड़ों की कुलदेवी मनियाँदेवी की है।

सवाल यह था कि "मनियाँदेवी" (स्त्रीमूर्ति) "मनियाँदेव" (पुरुषमूर्ति) कैसे हो गयी। "आल्हा" लोकगाथा की परम्परित लोकगायकी के "मनियाँदेव", "मनियाँदेवी" कैसे हो सकते हैं लोकवाणी में इतना परिवर्तन. . मेरे लिए यानी मेरे विचारों के लिए एक चुनौती थी। "परमालराओं" (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) में समाधान मिला कि "देव" शब्द के प्रयोग से वे मनियाँदेव ही है। द्विज हरिकेश की कृति "जगतराज की दिग्विजय" में बिल्कुल स्पष्ट है कि यक्ष-समय कुबेर ने पारस मणि और उसके रक्षक मणिदेव यक्ष, दोनों चंदेलनरेश को प्रदान किये। मणिदेव से मनियाँदेव होना सही है। चंदेलकालीन नाटक्कार वत्सराज के नाटकों में भी मणिभद्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यक्ष की पूजा का उल्लेख है।

लोकदेवता हरदौल की पूजा हर ग्राम-नगर में होती है, खासतौर से 'विवाह को भात' देने की प्रथा के कारण। प्रश्न यह है कि मध्ययुग के उस रसिक राजसी वातावरण में राज्यपरिवार के एक प्रमुख सदस्य हरदौल लोकदेवता कैसे बन गये?

हरदौल को लोकदेवता बनाने वाले कुल दो प्रसंग हैं- एक तो भौती-देवर के प्रेम को बहुत ऊँचाई पर ले जानेवाले "हरदौल का विप-पान और प्राणोत्सर्ग" तथा दूसरा भांजी के विवाह में भात देना। दूसरा प्रसंग चमत्कारों से भरा है और लोक चमत्कारों में देवत्व की शक्ति का आभास करता है। इसलिए हरदौल भौजी-देवर के प्रेम के देवता नहीं बने, वरन् विवाह के देवता बन गये।

हरदौल तो आदमी से देवता बन गये, पर नवरात्रि में किशोरियों के द्वारा खेले जानेवाले खेल नौरता में राक्षस की पूजा होती है, जिससे कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं। क्या राक्षस की पूजा लोक में संभव है?

वास्तविकता यह है कि नौरता का राक्षस राक्षस नहीं है, वरन् स्कंद है। कार्तिकेय या स्कंद क्रूर ग्रहों के देवता हैं। ये क्रूर ग्रह बालक-बालिकाओं को १६ वर्ष की आयु तक कष्ट देते हैं, लेकिन स्कंद की पूजा से क्रूर ग्रह कोई अनिष्ट नहीं करते। इसलिए स्कंद की पूजा होती है स्कंद की मूर्ति को राक्षस की तरह बनाने से यह भ्रम हुआ है।

स्कंद की मूर्ति को कुछ इस तरह बना दिया गया कि वह राक्षस-सी लगने लगी, तो स्कंद की जगह राक्षस ने ले ली और लोककथा में भी राक्षस हो गया। क्या लोकसंस्कृति लोककलाओं को प्रभावित नहीं करती हैं? यदि करती हैं, तो किस रूप में और किस हद तक?

लोककलायें दो प्रकार की हैं- एक वे, जो स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं और दूसरी वे हैं, जो किसी कथा के कथानक की प्रतीक हैं। नौरता में स्कंद और गौरी की कथा है, दिवारी में लक्ष्मी जू की और दोज में भैया-बहिन की। इन मूर्तियों और ख्रियों के प्रतीकार्य कथा-प्रसंगों से जुड़े हुए हैं। ऐसी प्रतीकात्मक कलाओं पर लोकसंस्कृति का प्रभाव कथाओं के माध्यम से सार्थक सिद्ध हुआ है। कथामुक्त लोकचित्रों या लोकमूर्तियों पर भी लोकसंस्कृति का असर कुछ कम या अधिक रूप में दिखाई पड़ता है। सूर्य, चंद्र, स्वस्तिक, वृक्षादि भी सांस्कृतिक प्रतीकात्मकता से संबद्ध हैं। सीधी रेखा, तिरछी रेखा, लहरियादार रेखा, त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त आदि के ज्यामितिक प्रतीक लोकजीवन की विभिन्न स्थितियों को इंगित करते हैं, लेकिन उनकी प्रतीकात्मकता तांत्रिक दर्शन की अर्थवत्ता से जुड़ी हुई है। इस प्रकार पुरानी पारम्परिक लोकलाएँ लोकजीवन और लोकसंस्कृति से पूरी तरह प्रभावित रही हैं।

लोकसंस्कृति एक अंचल के लोक की संस्कृति है और क्षेत्रीय अस्मिता के कारण वह दूसरे अंचल की लोकसंस्कृति से भिन्न है, फिर लोकसंस्कृति से सांस्कृतिक एकता कैसे संभव है?

भारत का हर अंचल या जनपद अंग है और उसकी भिन्नताएँ उसकी आंचलिक विशेषताएँ हैं, जो उसे पहचान प्रदान करती हैं। लेकिन इन भिन्नताओं के बावजूद उन सबकी आत्मा एक है, उनकी समानताएँ (भले ही आंतरिक हों) एकमिल होकर एक राष्ट्र बनाती हैं ठीक इसी तरह हर अंचल की लोकसंस्कृति में कुछ ऐसे समान तत्व होते हैं, जो दूसरे अंचलों की लोकसंस्कृति के तत्वों से मेल में एक भारतीय लोकसंस्कृति की सरंचना करते हैं। दूसरी बात यह है कि लोकसंस्कृति का न तो कोई विशिष्ट दर्शन, धर्म या सम्प्रदाय और विचारधारा है और न कोई विशिष्ट आग्रह। इस वजह से लोकसंस्कृति एकता सबसे अधिक संभव है। लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति के प्रमुख अंग के रूप में इस सांस्कृतिक एकता के प्रसार में सबसे अधिक सहायक हैं।

आपने बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति का इतिहास लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि एक कालखण्ड की लोकसंस्कृति दूसरे कालखण्ड की लोकसंस्कृति से कुछ भिन्न होती है। क्या यह परिवर्तन एक अंचल में ही होता है या सभी अंचलों अर्थात् देशभर में?

लोकसंस्कृति को पहले एक कालखण्ड की संस्कृति के रूप में नहीं परखा जाता था। बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति को स्पष्ट करने के लिए चंदेलकालीन वीरतापरक लोकमूल्यों, तोमरकालीन लोकधर्म,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुगलकालीन लोकसंस्कार, मध्ययुगीन लोकाचार आदि को गड्डमड्ड कर एक चित्र उपस्थित किया गया है। लोक बदलता है, तो लोकसंस्कृति में बदलाव आता ही है। अधिकतर जनपदों में एक ही साथ एक समय में परिवर्तन होता है, क्योंकि देश के परिवर्तन का प्रभाव उसके जनपदों पर पड़ता है। लेकिन कभी-कभी किसी जनपद की विशिष्ट परिस्थिति के कारण परिवर्तन की स्थिति पहले आ जाती है,जबकि अन्द जनपदों में विलम्ब से परिवर्तन हो पाता है। बहरहाल, जनपद और देश में परस्पर अंतरक्रिया चलती रहती है और इसी संदर्भ में लोकसंस्कृति के परिवर्तन की प्रक्रिया पर विचार होना उचित है।

आपने लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति पर अनेक शोधलेख लिखे हैं, जिनकी शोध बुंदेलखण्ड जनपद तक सीमित रही है। क्या इसके पहले अन्य किसी विद्वान ने ऐसा कार्य किया है?

लोकसंस्कृति और लोकसंस्कृति के इतिहास पर हिन्दी में बहुत कम कार्य हुआ है। लोकसाहित्य पर अनेक विद्वानों ने कार्य किया है, लेकिन उसके विकास और इतिहास पर शोध होना शेष है। मैंने सबसे पहले बुंदेली फाग के उद्भव और विकास पर एक शोधलेख लिखा था, फिर आदिकालीन या चंदेलकालीन लोकसाहित्य की खोज की और अब मध्यकालीन पर कार्य जारी है। जहाँ तक बुंदेलखण्ड जनपद तक सीमित रहने का प्रश्न है, मैं समझता हूँ कि श्रेत्रीय परिधि सीमित, किन्तु निश्चित होने से काम में गंभीरता आती है।

लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति की चर्चा अब काफी हो रही है। शासन और मीडिया भी संरक्षण दे रहे हैं। इस संबंध में आपका कोई सुझाव या प्रस्ताव हो, तो बताने का कष्ट करें।

भारत में ७५-८० प्रतिशत गाँव हैं, इसलिए प्रजातंत्री शासन में ये अधिक महत्व के हकदार हैं। लेकिन स्थिति उल्टी है। आजादी के बाद नगरों को काफी लाभ मिला है। नगरों में सबकुछ है, साहित्यिक संस्थाएँ, केन्द्र, सम्मेलन, संगोष्ठी आदि सारी सुविधाएँ। दूसरी तरफ गाँव पूरी तरह से उपेक्षित। अब तो साहित्य में नगरबोध बुरी तरह छाया है, गाँव के लिए साहित्य की रचना क्यों करें? गंभीर समस्या है गाँव का साहित्य प्रकाशित कैसे हो? गाँव का लोकसाहित्य राष्ट्रीय साहित्य है और राष्ट्र के साहित्य का अनिवार्य अंग। प्रजातंत्री साहित्य वही है, जो लोक का हो, लोक के लिए हो और लोक को व्यक्त करता हो। फिर ऐसे प्रजातंत्री साहित्य की उपेक्षा क्यों? लोककवि "ईसुरी" बगौरा में प्राण होम दे और नगरों के कानों में जूँ तक न रेंगे। क्या यही साहित्य का लोकतंत्र है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ. हरिसिंह घोष

लोकसाहित्य की व्याख्या और विश्लेषण में प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त का योगदान

लोकमानस सहज ही भिन्न-भिन्न युगों की लोकचेतना को आत्मसात करता हुआ लोकोपयोगी तत्वों को संजेता रहा है और लोकानुभूति में परिपक्व लोकभाव को लोकरस में सराबोर कर साहित्य-सृजन की प्रक्रिया भी लोक द्वारा तत्कालीन लोकानुरूप विधाओं में अनवरत (निरंतर) चलती रही, यही सृजन ही हमारा लोकसाहित्य है जो अपनी गतिशीलता के कारण हर युग में प्रासंगिक रहा है। ऋग्वेद से लेकर आज तक अबाध गति से चली आ रही इस लोकसाहित्य की परम्परा से सृजित अमूल्य सामग्री के संग्रह, संरक्षण एवं अनुशीलन के लिए विद्वज्जनों ने सार्थक प्रयास किये हैं और उसके अच्छे परिणाम भी हमारे सामने हैं, किन्तु भारतीय दृष्टि के पक्षपाती डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त का इस क्षेत्र में सृजन विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें लगन के साथ ही उनके संकल्प की भूमिका अधिक दिखाई देती है, वह संकल्प है कि " पश्चिम में लोक के प्रति जो भी दृष्टि रही हो, पर हमें भारतीय दृष्टि और मान्यता का ही आधार लेना है और लोक की शक्तिमयी मूर्ति ही प्रतिष्ठित करती है।"[1]

लोकसाहित्य की सैद्धान्तिक व्याख्या और समीक्षा के लिए लोक के प्रति पूरी आस्था और विश्वास भरी मानसिकता वाले सुघर जौहरी का होना बहुत आवश्यक है और यह भी आवश्यक है कि 'लोकत्व' का सही ज्ञान रखने वाले इस 'जौहरी' के मन में 'लोक के प्रति सर्मपण का भाव' भी संकल्पित हो। अभी तक विद्वानों द्वारा लोकसाहित्य के संकलन-संरक्षण के अतिरिक्त समीक्षा के क्षेत्र में किये गये प्रयास निश्चित ही स्तुत्य हैं, किन्तु लोकसाहित्य के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को उजागर करने एवं शोधपूर्ण मान्यतायें प्रतिस्थापित करने के लिए डॉ. गुप्त ने स्वयं भी व्यक्तिगत साक्षात्कार की प्रक्रिया को अपनाकर सूक्ष्मता के निकट पहुँचने का प्रयास किया है, इसके लिए उन्हें बुंदेलखण्ड के दूर-दूर तक फैले अंचलों में जाना पड़ा। अनेक जगह मुझे भी साथ जाने का अवसर मिला। अतः लोक से घुलमिल कर विद्वता की मथानी के सहारे जो नवनीत डॉ. गुप्त ने सृजन के माध्यम से प्रस्तुत किया है, उस पर दृष्टि डालना भी लोक की शक्तियी मूर्ति के प्रति श्रद्धार्पण ही होगा।

संकलन और सम्पादन

लोकसाहित्य का संकलन लोकसाहित्य-सेवा का पहला चरण है। वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार उचित रूप से ऐसी सामग्री का संकलन करने के लिए साधन को बहुत कुशल, सद्स्वभाव युक्त और लोकसाहित्य की विधाओं का ज्ञाता होना आवश्यक है। संगृहीत सामग्री का सम्पादन दूसरा चरण हैं, जिसके लिये आवश्यक है कि साधक को लोक-भाषा और आंचलिक शब्दावली का सम्यक ज्ञान हो। संकलन और संपादन जब एक ही साधक द्वारा किये जाते हैं, तब मूलरूप के अधिक निकट पहुँचने और पाठ-निर्धारण में अधिक सुविधा होती है। डॉ. गुप्त एक ऐसे ही साधक हैं, जिसकी पुष्टि हेतु चौमासा अंक ४० में प्रकाशित "जगदेव की गाथा" नामक आलेख ही पर्याप्त है।

"जगदेव की गाथा" आलेख में डॉ. गुप्त ने संकलित तीन पाठों का पाठ सम्पादन कर अन्य

1. ग्वालियर के लोकसाहित्य-समारोह के उद्घाटन भाषण से उद्धृत।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दो पाठों में प्रयुक्त पाठान्तर को टिप्पणी के साथ लिखा है। तत्पश्चात् अनुवाद दिया है। विशेष टिप्पणी में तीनों पाठों की जानकारी एवं गाथा की केन्द्रीय भावना को उजागर करते हुए लिखा है कि "इस गाथा में गर्व विनाश का कारण है, नारी महिमायुक्त है और भक्ति का प्रभाव चमत्कारी होता है, ऐसे संदेश गाथा को आदर्शमयी बनाते हैं।"[2]

गाथा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की प्रस्तुति विशेष शोधपूर्ण है, जिसमें उन्होंने तीनों पाठों में तत्कालीन संस्कृति के तथ्यों को रेखांकित करते हुए लिखा है कि " शाक्त परम्परा का प्रभावशाली रूप १२ वीं शती के आल्हा में दिखाई पड़ता है, क्योंकि आल्हा देवी का परम भक्त रहा है। जगदेव की गाथाएँ उसी समय की रचनाएं हैं और उनका रचनाकाल ११ वीं- १२ वीं शती ही है। जहाँ तक तीसरे गाथा-रूप "जगदेव का पुआंरा" की रचना का प्रश्न है, वह मुगलकाल की है, क्योंकि उसमें राजपूत कन्या की रक्षा के लिए मुगलों में राजा जगत या जगदेव की संघर्ष-प्रधान घटना है। तीसरा गाथा-रूप भक्तिपरक न होकर वीररसपरक है, भले ही राजा जगत या जगदेव देवी जालपा के वरदान से विजयी हुए हों। मुगलयुग में शाक्त परम्परा का वह रूप नहीं मिलता, जो ११ वीं- १२ वीं शती में विद्यमान था। अभिप्राय की दृष्टि से चौपड़ खेलने, समुद्र का गर्व हरण करने और नारी की महिमा गाने के अभिप्राय मध्ययुग में प्रचलित रहे हैं। शाप देना और रूण्ड से मुण्ड उगाना आदिकालीन अभिप्राय हैं।"[3] इस प्रकार का शोधपरक सम्पादन लोकसाहित्य की गहराइयों तक पहुँचने के लिये एक अच्छा मार्ग प्रशस्त करता है।

पाठ-निर्धारण

लोकगीत, कथागीत और लोकगाथाओं आदि के विभिन्न रूपों के सामने रखकर उनका पाठ-संपादन और सही व्याख्या, वैज्ञानिक अनुशीलन के लिए आवश्यक है। डॉ. गुप्त ने "छत्रप्रकाश" के पाठ-निर्धारण पर जो तर्क पूर्ण टिप्पणी लिखी है, वह निश्चित ही पाठ-निर्धारण हेतु नवीन वैज्ञानिक दिशा का निर्देश करती है।[4] बानगी-बतौर उन्होंने हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर ईसुरी की दो फागों का पाठ-निर्धारण मामुलिया (त्रैमासिक-पत्रिका) के प्रथम अंक में प्रस्तुत किया है।[5] "सुराज" में संकलित बाईस बुंदेली लोकगीतों का पाठ-निर्धारण, सम्पादन, अनुवाद और संदर्भित अर्थ अथवा अन्य जानकारी देना वैज्ञानिक प्रक्रिया का एक सटीक उदाहरण है।[6] उल्लेखनीय है कि आजकल वे आल्हखण्ड के पाठ-निर्धारण का कार्य कर रहे हैं, जिसकी पूर्णता एक महत्वपूर्ण उपलब्धि होगी।

काल-निर्धारण

लोकसाहित्य का ऐतिहासिक क्रम में अध्ययन सदैव उपेक्षित रहा है, जबकि उसमें हर युग का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र और घटनाओं के साथ-साथ सांस्कृतिक कलेवर भी रहता है। लोकसाहित्य की गतिशील धारा युग-चेतना के अनुरूप मोड़ भी ले लेती है, किन्तु यह भी सच है कि विभिन्न कारणों से कृति के मूल रूप में हुए रूपान्तरण उसके काल-निर्धारण में बाधक हो जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि लोकसाहित्य में निहित स्थायी आधारों का आश्रय लेकर काल-निर्धारण किया जाय, ताकि उनकी डॉ. गुप्त ने इसके कुछ ठोस आधारों को निर्धारित किया हैं- भाषारूप, कथारूढ़ियाँ, ऐतिहासिक वस्तु-कथा एवं पात्र, प्रसिद्ध घटना या पात्र, तत्कालीन लोकसंस्कृति।[7] काल-निर्धारण के लिए कसौटी के अंतर्गत वे लिखते हैं कि "सही परख तभी हो

2. जगदेव की गाथा- डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, चौमासा अंक ४०2. सं. -कपिल तिवारी, पृ ८५।
3. वही, पृ. ८५।
4. छत्रप्रकाश के पाठ निर्धारण पर एक टिप्पणी-डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त मामुलिया, अंक २2. संवत २०३८ पृ. ९९-१०१
5. मामुलिया, अंक प्रथम, सं- डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ ५५।
6. बुंदेली गीत, सुराज पत्रिका, मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद् भोपाल द्वारा प्रकाशित।
7. लोकगीतों का काल- निर्धारण- डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ १८।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकती है, जब सभी दृष्टियों से वह जाँचा जा सके। इस परीक्षण के बाद उसे तत्कालीन सही माना जा सकेगा। साथ ही साथ रूपान्तरण और शब्दों के विनिमय को बहुत सूक्ष्मता से पहचानना होगा।.........मैंने तो केवल बानगी दी है, पूरा सौदा विद्वानों के हाथ छोड़ता हूँ।"[8]

इसी संदर्भ में डा. गुप्त द्वारा लिखित शोधप्रबंध "बुंदेलखण्ड का मध्ययुगीन लोक काव्य" का एक अध्याय भी उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने मध्यकाल की सामग्री और उसका विभाजन प्रस्तुत किया है। इस विभाजन में मध्यकाल की मौखिक परम्परा में उपलब्ध सामग्री एवं लिखित परम्परा में उपलब्ध सामग्री को पाँच वर्गो में विभाजित कर सूक्ष्म विवेचना भी की गई है। यह प्रस्तुति शोधार्थियों के लिए मध्ययुगीन लोकसाहित्य के काल-विभाजन में विशेष उपयोगी है। उदाहरण के लिए एक अंश प्रस्तुत है- "इन राछरों का काल-निर्धारण १७५८ ई. के उपरांत करना उचित ही है। इसी प्रकार तेजवली के राछरे कोंच के बुंदेला राजा तेजसिंह की वीरता की गाथा कहते हैं।........रीति-रिवाज संबंधी लोकगीतों में पर्दा, घुँघट, सती होना आदि कतिपय प्रथाओं से यह सिद्ध होता है कि उनका प्रचलन इसी काल में हुआ था। इसी प्रकार वस्त्र, भोजन और आभूषण से अनेक लोकगीतों का काल-निर्धारण संभव है।"[9]

सैद्धांतिक अवधारणा

भारतीय मनीषियों की दृष्टि लोक के प्रति सचेतन रही है। वेद-उपनिषदों से लेकर अनेक ग्रंथों में वर्णित लोक के स्वरूप की चर्चा भी इसी संदर्भ में हुई है। कुछ विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में "जन" शब्द का प्रयोग "लोक" शब्द के लिये हुआ है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। ऋग्वेद में प्रयुक्त जन का अर्थ सीमितन[10], जबकि "लोक" शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[11] जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में लोक की व्यापकता का स्पष्ट संकेत मिलता है। उसमें कहा गया है कि- "यह लोक अनेक प्रकार से विस्तृत है। प्रत्येक वस्तु में यह व्याप्त है। प्रयत्न करके भी पूर्णतः इसे कौन जान सकता है।"[12] डॉ. गुप्त ने इसे पढ़ा है अथवा नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता किन्तु लोक के इस व्यापक स्वरूप की व्याख्या उन्होंने अपने एक व्याख्यान में प्रस्तुत की है- "सबसे पहले मैं उस सर्वव्यापी, सर्वज्ञानी और सर्वशक्तिशाली लोक को प्रणाम करता हूँ, जिसके लोकदर्शन में सभी दर्शन, और लोकादर्शों में मांगलिक आदर्शो का संगम है तथा जिसके लोकभाव में सभी भावों और लोकरस में सभी रसों की समाहित है। वह ग्राम में है और नगर में भी, हर समुदाय और वर्ग में भी। जिस मन में लोकधर्मी चेतना है, उसे लोकमन में और जिस हृदय में लोकदर्शी भाव है, उस लोकहृदय में भी। लोकदर्शन उसका मस्तिष्क है, तो लोकधर्म उसकी आत्मा। लोकाचरण और लोककर्म उसी भुजायें तथा लोकगति और लोकावर्तन उसके चरण। ऐसे अगणित हाथ-पैर और मस्तिष्क वाले शक्तिपुंज लोक को मैं नमन करता हूँ।"[13] इस प्रकार लोक के इस विराट स्वरूप के दर्शन कराने की पहल शायद पहली बार की गई है।

लोक की अवधारणा पर पश्चिमी विद्वानों की मान्यताओं से प्रभावित न होकर डॉ. गुप्त ने भारतीय मनीषियों के विचारों का मंथन किया। महर्षि व्यास के कथन "प्रत्यक्षदर्शी लोकाना सर्वदर्शी भवेन्नरः" को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं कि- "लोक के ज्ञान के लिए लोकभूमि पर खड़े होकर लोकचेतना के स्तर पर लोक से जुड़ाव अनिवार्य है।....... महर्षि व्यास का प्रत्यक्षदर्शी शब्द काफी महत्व का और अर्थगर्भी है।"[14] डा. सत्येन्द्र द्वारा लिखित लोकमानस की परिभाषा

8. वही।
9. बुंदेखण्ड का मध्ययुगीन काव्य-शोधप्रबंध -डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त पृ. १९६-२००।
10. ऋग्वेद ३/५३/१२
11. वही १०/६०/२४
12. जैमिनीय उपनिषद ब्राम्हण, ३/२८
13. मध्यभारतीय हिन्दी साहित्य सभा ग्वालियर के समग्र साहित्यकार-सम्मेलन में डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त का उद्घाटन भाषण, दिनांक १८.१९.२० मार्च, १९८८
14. लोक की अवधारणा और लोकसृजन- डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, चौमासा अंक- ३६, नव. ९४- फर. ९५, म. प्र. आदिवासी लोककला परिषद, भोपाल, पृ.०५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में प्रस्तुत यह धारणा कि लोकमानस वह मानसिक स्थिति है, जो आदिम मानव की परम्परा में है और उसी का अवशेष है डा. गुप्त को पूरी तरह स्वीकार नहीं है। वे स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि "आदिम मानव की परम्परा में या उसके थोड़े बहुत अवशेष के रूप में लोकमानस को स्वीकार करने में संभवतः किसी को संकोच न हो, परन्तु उसे मात्र प्राकृत आदिम रूढ़ मूल मानस मानना आपत्तिजनक है।" तर्क के साथ उन्होंने स्वीकारा है कि 'लोक से तात्पर्य उस लोकमानस या लोकप्रवृत्ति से है, जो सहज और प्रकृत मानसिक वृत्तियों की पुंजीभूत इकाई का रूप होता है'।[15]

लोकसाहित्य की परख के लिये लोक की समझ जरूरी है और लोक की सही समझ के लिये आवश्यक है लोकत्व का ज्ञान। लोकत्व के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को गहराई से जाने बिना लोक और लोकसाहित्य का अनुशीलन भी सही नहीं किया जा सकता। डा. गुप्त ने लोकत्व के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक, दोनों पक्षों के साथ ही लोक पुरुष रूपक, लोक की एकता, लोक की एकता, लोक में परिवर्तन, लोकानुभूति, लोकसृजन आदि प्रमुख तत्वों की व्याख्या एवं लोकत्व और शास्त्रीयता की पारम्परिक अंतक्रिया में विकास का शोधपूर्ण विवरण प्रस्तुत कर मौलिक तथ्यों को उजागर किया है। एक अंश दृष्टव्य है- "वस्तुतः लोकोपयोगी और लोकमान्य ही शास्त्रीय बन जाता है और शास्त्रीय लोकोपयोगी न होकर जब रूढ़ि बन जाता है और अपनी अस्मिता खो देता है, तब उसी की खाद से लोकत्व पनपता है।"[16]

लोकसाहित्य की विधाओं का अभी तक विद्वानों द्वारा किया गया विश्लेषण डा. गुप्त के लिए कितना आधार बना, यह तो डा. गुप्त ही जानें, किन्तु उन्होंने अपनी व्याख्याओं में न तो "बैलेड" शब्द का पर्याय लोकगाथा को माना न "फॉक सांग" की लोकगीत से तुलना की और न ही "फॉक टेल" के लिये लोककथा शब्द की सार्थकता पर विचार किया। संभवतः लोकसाहित्य की व्याख्या करने में उन्होंने पश्चिमी विद्वानों के विचारों को आधार ही नहीं बनाया। प्रो. केट्रीन, हैजलिट, डा. मरे, स्टेन्थल, श्लेगेल, विशपपरसी, जासिफरिट्सन, सरवाल्टर स्काट, प्रो. पाल आदि प्रसिद्ध विद्वानों की आधारभूत मान्यताये डा. गुप्त की दृष्टि में भारतीय लोकसाहित्य की व्याख्या के लिए किसी प्रकार भी मान्य नहीं हैं। लोकसाहित्य की सभी विधाओं पर उनकी शोधरक दृष्टि अपनी है। इसके लिये उन्होंने लोकानुभूति, लोकभाव, लोकविवेक और लोककल्पना के सम्मिलित अस्तित्व को महत्व दिया। उदाहरण के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत लोकगाथा की व्याख्या दृष्टव्य है- "लोकगाथा लोकभाषा में रचित वह गाथा है, अपने अंतर्निहित लोकत्व के कारण लोक द्वारा गृहीत हो गयी हो और लोकमुख में जीवित हो। लोकरचना का लोकत्व दो पहियों की धुरी है, जिनमें एक है लोकानुभूति और दूसरा है लोकाभिव्यक्ति। लोकानुभूति, लोकभाव, लोकविवेक और लोककल्पना का रासायनिक संघटन है। लोकरचना का प्रधान तत्व तो है लोकभाव, लेकिन उसे संपुष्ट करने वाला और घनत्व प्रदान करने वाला है लोकविवेक, जो लोकदर्शन, लोकधर्म और लोकमूल्यों से उद्भूत है। लोकल्पना लोकानुभवों को चयनित और बिम्बित करती है। जिस तरह लोकविवेक सामान्य और पक्षपात रहित होता है, उसी तरह लोककल्पना सहज है। तीनों लोक-संवेदना के अनिवार्य अंग हैं। अभिव्यक्ति में लोकत्व के प्रभावी होने से उसे लोकाभिव्यक्ति की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार लोकभाषा की गाथा अपनी लोकानुभूति और लोकाभिव्यक्ति के कारण लोकगृहीत होने पर जब लोकमुख में आ जाती है, तब लोकगाथा कहला पाती है।"[17]

लोकसाहित्य से संबंधित अनेक तथ्यों पर विद्वज्जन एक मत नहीं हो सके, जिसका संभवतः एक ही कारण हो सकता है कि लोकसाहित्य के तत्वों को वैज्ञानिक तरीके से समझने का समुचित प्रयास नहीं किया गया है। डा. गुप्त ने इस प्रकरण को गंभीरता से लिया और लोकसाहित्य के स्वरूप की सैद्धांतिक व्याख्या करते हुए विवादित मुद्दों पर शोधात्मक तर्कों का आश्रय पुष्टि सहित विवाद एवं भ्रान्तियों को निमूल करने का प्रयास किया है। इसके अंतर्गत उन्होंने ग्यारह तत्वों

15. वहीं पृ. ५
16. वहीं पृ. ६
17. ब्रज और बुंदेलखण्ड की एतिहासिक गाथाएँ और कथागीत-नर्मदता प्रसाद गुप्त, रंगायन, जन. -मार्च १९९७, पृ. ४७

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की विवेचना की है- निर्वैयक्तिकता, लोकवाचिकता, सार्वभौमिकता, गत्यात्मकता, पारम्परिकता, सामाजिकता, मांगलिकता, मूल और प्रकृत का प्रयोग, लोकसहज शिल्प, संगीतात्मकता, और वैचारिक निरपेक्षता। यहाँ सबसे पहले उन्होंने लोकसाहित्य में लोकत्व की प्रमुखता को दर्शाते हुए लोकसाहित्य की परिभाषा प्रस्तुत की। वे लिखते हैं- "लोकसाहित्य लोकभाषा का वह साहित्य है, जो अपने अंतर्निहित लोकत्व के कारण लोकमान्य होकर लोकगृहित हो गया हो और लोकमुख में जीवित हो।" लोकसाहित्य के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे स्पष्ट किया है कि "अगर ध्यान से परखा जाय, तो लोकभाव दोनों तत्वों लोकविवेक और लोककल्पना की अपेक्षा अधिक मात्रा में रहता है। इसीलिए लोककाव्य में भावुकता की प्रधानता और अधिकता रहती है। लोकगाथाअओं में तीन तत्वों में बहुत कुछ संतुलन रहता है, जबकि लोककथाओं में लोकविवेक की अनिवार्यता उसके महत्व को बढ़ा देती है।" इसी तारतम्य में एक वाक्य और दृष्टव्य है- "लोकमन इतना संयमित रहता है कि वह अपने लोकविवेक का झंडा नहीं फहराना चाहता और लोकनयन इतने सतर्क हैं कि बादी की दृष्टि को कभी नहीं आंजते।"[18] इस आलेख में दिये गये तर्क और समाधान निश्चित ही विचारणीय हैं। लेखक ने इसमें मौलिक उद्भावनाओं के साथ ही अनेक पारिभाषिक शब्दों में को गढ़ा है, जो अर्थ को संजोये हुए नये रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

लोकसाहित्य का इतिहास-लेखन और विश्लेषण

लोककाव्य-सम्पदा का वर्गीकरण, रूपात्मक परिचय और परम्परागत विश्लेषण पर विद्वानों ने बहुत कुछ सामग्री दी है, किन्तु किसी छंद विशेष पर शोधात्मक दृष्टि डालने की पहल शायद डा. गुप्त ने पहली बार की। लोककाव्य के विकास-स्त्रों पर सोपानवत् अध्ययन करते हुए उन्होंने बुंदेली लोकगीत और लोकगाथाओं के आदिश्रोत तक पहुँचने का प्रयास किया और दोहा, लमटेरा, राई एवं फाग की उपज का एक क्रम पा लिया। लोककाव्य के प्रथम सोपान पर उन्होंने एक शोधात्मक निर्णय प्रस्तुत करते हुए लिखा हैं कि- "प्रारंभिक लोककाव्य कथनात्मक रूप में था। उसकी लय जीवन के कार्य व्यापार की गति से निश्चित होती थी। कथन के खण्डों को तुकान्त से या स्वराघात से लयवान बनाया जाता था।......खेलों से संबंधित गीत तो जीवित हैं, पर अन्य गेयता के माधुर्य से वंचित होने के कारण धीरे-धीरे मुर्झाते हुए विलीन हो गये। करसदेव की गोटों में कहीं-कहीं कथानात्मक रूप के दर्शन मिल जाते हैं।"[19]

गेय काव्य का माधुर्य बुंदेली लोककाव्य में ९ वीं- १० वीं शती से देखने को मिलता है। यह गेयता मात्र "दोहा" छंद पर केंद्रित होकर विकास-पथ की ओर प्रवाहवान् हुई है और दोहारपरक लोककाव्य दिवारी, साखियाँ, राई, लमटेरा आदि के रूप में सृजित हुआ। डा. गुप्त ने इस अछूते विषय को ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उजागर किया जो निश्चित ही उल्लेखनीय है। दोहापरक गीतों के संबंध में वे लिखते हैं- "इस अंचल के दिवारीं गीतों और सखयाऊ फागों में दोहे का बंधान है। लमटेरा और राई भी उसी की उपज हैं। प्रकट है कि इन लोकगीतों के केन्द्र में दोहा रहा है।.....छंदशास्त्र में ११ मात्राओं के चरण वाला अमीर या अहीर छंद मिलता है। यह भी संभव है कि इस छंद का विकास विदारी गीत के रूप में हुआ हो। इतना निश्चित है कि दिवारी गीतों का प्रचलन १० वीं शती में था। बुंदेली की सखयाऊ (साखी की) फाग भी दोहे के आधार पर बनी थी।.......दोहे के आधार पर ही राई गीत का विकास हुआ। पहले एक टेक और फिर एक दोहा तथा इसी की आवृत्ति। कहीं-कहीं टेक के प्रथम अर्द्धांश को दुहराकर शेष अंश दूसरे चरण में गाने का रिवाज है। ....लमटेरा लम्बी टेर से गाया जाने वाला दोहा ही है।...... इसे साखी भी कहते हैं तो तुकांत और अतुकांत दोनों रूपों में होती है........इस प्रकार दोहा को केन्द्र में रखकर लोकगीतों का विकास लोककाव्य के आविर्भाव की एक दिशा है।"[20]

बुंदेलखण्ड में वीररसपरक लोकगाथाओं की समृद्ध परम्परा के सोपान चंदेलों के उत्कर्ष की

18. लोकसाहित्य का लोकशास्त्र- डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. १ से ६
19. आदिकालीन लोककाव्य- डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. ५
20. वही, पृ. २-३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रमिकता के समानान्तर दिखाई देते हैं, किन्तु इन गाथाओं के प्रारंभिक चरण में राछरों की समृद्ध परम्परा अपना एक विशेष महत्व रखती है, जिसकी पृष्ठभूमि को जानने और उसके वैशिष्ट्य को निर्धारित करने का सफल प्रयास डा. गुप्त ने अपने आलेख में किया है। यद्यपि बुंदेली की उपेक्षित काव्य-सम्पदा के निर्धारण, वर्गीकरण और परीक्षण का कार्य पहली बार डा. गुप्त ने किया, फिर भी बानगी बतौर राछरों पर दी गई शोधात्मक टिप्पणी का कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है। वे लिखते हैं- "राछरा बुंदेली का अपना शब्द है।.......राछरा शब्द की व्युत्पत्ति "रक्षा" शब्द से उचित है। रक्षा से "रच्छा" और "राछ" दोनों निकले हैं। विवाह में दूल्हा की "राछ" फिरना अभी तक प्रचलित है। आदि कालीन विवाह अधिकतर युद्ध से होते थे और उसमें दूल्हा की रक्षा करना अभीष्ट था।.......इस प्रकार आदिकाल में बहन की रक्षा के लिए भाई के युद्ध का वर्णन करने वाले गीतों को "राछरा" नाम दिया गया। "राछरा" का बृहत प्रबंधात्मक रूप ही राजा (राय) से जुड़कर रायराछरौ, रायरछौ, रायछौ कहलाया १००.........इस तरह बुंदेलखण्ड में दानवीरता के देवीगीतों से एक तरफ "राछरों" और दूसरी तरफ "वीरगाथाओं" का विकास हुआ है तथा इनकी अगली कड़ी "रायछौं" ग्रंथ हैं।[21]

राछरे के वैशिष्ट्य को उजागर करते हुए डा. गुप्त ने लिखा है कि- "राछरे एक ऐतिहासिक युद्ध की कोख से जन्मे वे गीत हैं, जिनके कंधों पर हिन्दी के समस्त वीरकाव्य का भार है। इसलिए उनके अध्ययन में बहुत सतर्कता और सचेतनता की आवश्यकता है।" वस्तुगत वैशिष्ट्य के संबंध में डा. गुप्त ने लिखा है कि- "आदिकालीन लोककाव्य में राछने गीत अपनी वस्तु के कारण अपनी पहचान बनाने में सफल हुए हैं। उनकी कथावस्तु में युद्ध एक सांस्कृतिक संघर्ष बनकर आया है, क्योंकि भाई बहिन की कजरियाँ सिराने के लिये युद्ध करता है। अगर आक्रमणकारी बहन का अपहरण करने अथवा उसकी प्रतिष्ठा गिराने आया है, तो भी उसके विरुद्ध यह युद्ध मानवीय मूल्यों के समर्थन का प्रतीक है। इस प्रकार युद्धपरक राछरे उस युग के राष्ट्रीय गीत कहे जा सकते हैं। संदेशपरक और अपहरणपरक राछरे उन्हीं की कथावस्तु के अंग हैं।"[22] शैलीगत वैशिष्ट्य को स्पष्ट करते हुए डा. गुप्त लिखते हैं कि -इन गीतों की भाषा में तत्कालीन ओजस्विनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने की पूरी क्षमता है। अभिधात्मक होते हुए भी उसमें अद्‌भुत व्यंजकता है। एक-एक पंक्ति एक-एक प्रसंग का प्रतिनिधित्व करती है........तीस-चालीस पंक्तियों का हर राछरा एक खण्डकाव्य-सा प्रभाव रखता है।......हिन्दी के ऐतिहासिक काव्य के बीज देवीगीत और जड़ राछरे हैं, तना आल्हागाथा के रूप में प्रस्फुटित हुआ है तथा वीरगाथाएँ, रासोकाव्य, चरितकाव्य आदि उसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं। राष्ट्रीय काव्य धारा का उद्‌गम राछरो से ही हुआ है।......राछरों में श्रृंगार, वीर और करुण तीनों रसराजों का सहज रूप मिलता है, जिसकी वजह से राछरों की प्रभावोत्पादकता बढ़ गयी है।"[23]

आंचलिक रूप को समेटे हुए लोकभाव से सम्पुष्ट और लोकादर्श की धनी बुंदेली लोकगाथाओं का भारतीय जनपदों में प्रचलित लोकगाथाओं के अध्ययन के आधार पर तात्विक अनुशीलन करने की पहल डा. गुप्त ने ही की, जिससे लोकगाथाओं की सार्थक अभिव्यक्ति के स्वरूप की व्याख्या का एक अंश उन्हीं के शब्दों में दृष्टव्य है- "कथा लोकगाथा का तन है, तो लोकादर्श मन। कथा के पात्र मुख, आँख, कान जैसे विभिन्न अंग हैं, जो अपने विविध व्यक्तित्वों से कथा रूपी तन को सार्थकता प्रदान करते हैं। लोकविवेक है उसकी बुद्धि और लोकभाव है हृदय। दोनों के सामंजस्य से लोकरस की अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति की सहजता और निरलंकृति ही लोकाभिव्यक्ति है। लोकगाथा की लोकाभिव्यक्ति में गेयता अधिक महत्वपूर्ण है।.......लोकगाथा का लोकत्व ही उसकी मौखिक परम्परा की संजीवनी है।"[24] वे आगे लिखते हैं कि "आंचलिकता या स्थानीयता लोकगाथा की भावुकता को संपुष्ट करता है और उसे घनत्व प्रदान करने में सहायक

21. लोककाव्य का द्वितीय सोपान-डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. २
22. वहीं पृ. ३-४
23. वहीं, पृ. ७-८
24. लोकगाथाः स्वरूप संगीत अभिनय और कुछ मुद्दे डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, छायापट, अंक ८०, १९९७ पृ. ३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता है। कई लोकगाथायें इतिहास के तथ्यों को अपने में छिपाये रहती हैं, जिन्हें संवेदनशील आंखे ही खोज पाती हैं।.....गेयता लोकगाथा की अभिव्यक्ति में केन्द्रीय विशेषता है, जो कथा के परिवर्तन के बावजूद नहीं बदलती। हर लोकगाथा एक विशिष्ट लोकलय या लोकधुन से जुड़ी होती है और एक विशेष छंद की रचना करती है।........लोकगाथाओं में विशेषतया प्रबंधात्मक या महाकाव्यात्मक गाथाओं में संवादात्मकता से उत्पन्न नाटकीयता का तत्व अत्यंत प्रभावी होता है, क्योंकि वह श्रोताओं पर सीधे असर करता है।....... प्राचीन लोकगाथाओं में नृत्य की भूमिका महत्वपूर्ण थी।........ इस तरह लोकगाथाएँ कई जनपदों के बीच संबंध स्थापना का महत्कार्य करती हैं। एक जनपद के लोकादर्शों को दूसरे जनपदों में ले जानेवाली सांस्कृतिक एकता की लोक माध्यम लोकगाथा का महत्व असंदिग्ध है।"[25]

लोकगाथाओं के रचनाकाल, पाठयोजना, वस्तुशिल्प और ऐतिहासिक तथ्यों के साथ-साथ उनमें निहित धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना पर शोधात्मक दृष्टि कारसदेव की गाथा, धर्मासांवरी की गाथा, गहनई की गाथा और परसा लोकगाथा का शोधात्मक अध्ययन उनके कतिपय लेखों द्वारा प्रस्तुत हुआ। इसके साथ ही विशेष उल्लेखनीय है लोकगाथात्मक लोकमहाकाव्य आल्हखण्ड से संबंधित डा. गुप्त के अनेक आलेखों में अंकित बहुमूल्य प्रस्तुति, जिसमें आल्हखण्ड की परम्परा, स्वरूप, प्रस्तुति, ऐतिहासिक तथ्य, काव्य-संस्कृति आदि पर शोधात्मक विश्लेपण है। भक्तिपरक लोकगाथा-प्रवाह के अंतर्गत वे लिखते हैं कि "इस प्रकार दैवीवीरता से लौकिक वीरता की और प्रयाण गाथाओं की विकास-दिशा है और जगद्देव की गाथा दोनों में सेतु का निर्माण करती है।"[26] अनेक विद्वानों द्वारा इन लोकगाथाओं को पंवाड़ा नाम दिये जाने और उसकी पुष्टि में प्रस्तुत तर्कों को प्रमाण सहित नकारते हुए वे लिखते हैं कि- "जगदेव की गाथा जगदेव परमार की देवीभक्ति की यशोगाथा है।..... यदि परमार या पंवार से पंवाड़ा लोकप्रचलित हुआ हो, और बुंदेलखण्ड में प्रचलित पंवाड़ों में केवल मालव के परमार राजाओं का वर्णन हो, तो फिर परमार राजाओं के अलावा अन्य लोकगाथाएँ पंवाड़ों की संज्ञा से वंचित रह जाएंगी। दूसरी आपत्ति यह है कि यदि पंवारों को वीरगाथा कहा जाय, तो प्रस्तुत जगदेव की लोकगाथा उसमें नही अंट पायेगी क्योंकि उसका केन्द्रीय भाव भक्ति का है। इसलिए पंवाड़ा या पंवारा के स्थान पर लोकगाथा या वीररसपरक लोकगाथा का प्रयोग अधिक समीचीन है।"[27] रचनाकाल पर निर्णायक टिप्पणी भी दृष्टव्य है- "कारसदेव की गोऐं एक ही स्वर में गायी जाती हैं, अतएव प्रयोज्य स्वर के अनुसार वे आदिकालीन ठहरती हैं।.......इन संकेतों से स्पष्ट है कि इस गाथा का रचनाकाल ११८२ ई. के बाद और १२०० ई. के पूर्व का निर्धारित करना उचित है, क्योंकि इसमें १२०३ ई. के मुस्लिम आक्रमण का संकेत नहीं मिलता है।"[28]

व्यापीकरण

लोकसाहित्य की व्यापकता सांस्कृतिक एकता के लिए बहुत आवश्यक है। आंचलिक विविधताओं के बावजूद लोकसंस्कृति में निहित समानधर्मी तत्व राष्ट्र के सांस्कृतिक संगठन को कितनी दृढ़ता से एकता के सूत्र में बांधे रहते हैं, इसको उजागर करने की जरूरत इसलिये भी है कि लोकसाहित्य के अन्तरतम में अनवरत बह रही एकता की पावन गंगा के महत्व को समझा जा सके। लोककवि के मानस में सामूहिक सामाजिकता की चेतना का प्रेरणादायक प्रमाण उसे विघटनकारी तत्वों से जूझने वाली कर्मात्रयी ऊर्जा काव्य के रूप में प्रस्तुत करने को प्रेरित करता हैं। इसी लोककाव्य ने हर बालक को समय की माँग के अनुरूप राम बना दिया। दसवीं-ग्यारहवीं शती में जब तुलसी पैदा भी नहीं हुए थे और बाहरी आक्रमणों का सामना करने के लिए राष्ट्रीय चेतना को जगाने की महती आवश्यकता थी, तब लोकसाहित्य ने सहारा दिया। इसी सत्य को

---

25. वहीं, पृ. ४-७
26. भक्तिपरक लोकगाथा- प्रवाह, पृ. ७
27. वही, पृ. ७
28. वही, पृ. १२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रभावी ढंग से डा. गुप्त ने अपने आलेखों में प्रस्तुत किया है। सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की प्रधानता को अभिव्यक्त करने वाली उनकी यह अवधारणा दृष्टव्य है- "उनका लोकसाहित्य तो उस लोकसंस्कृति को चित्रांकित करता है, जो भारतीय संस्कृति की जड़ है और जिससे संस्कृति का पौधा बाहर की आंधियों को झेलता खड़ा रहता है। हर क्षेत्र की लोकसंस्कृति के कुछ समवाय (पैटर्न) अन्य क्षेत्रों के समवायों से समानता के कारण राष्ट्रीय संस्कृति के समवाय बन गये हैं। साथ ही राष्ट्रीय समवाय भी हर क्षेत्र की लोकसंस्कृति में व्याप्त हो गये हैं।"[29]

लोकसाहित्य की मूल चेतना में सांस्कृतिक एकता के सूत्र स्पष्ट देखे जा सकते हैं, जिसमें राष्ट्रीय एकता की शाश्वत भावना संकीर्णता के दायरे से बहुत ऊपर है। लोकादर्श, लोकमूल्य और लोकधर्म और लोकधर्म का राष्ट्रीय संस्कृति में व्यापीकरण समानधर्मी तत्वों को परखने से समझा जा सकता है। इसका विश्लेषण डा. गुप्त ने अपने ढंग से किया है। वे लिखते हैं- "अगर गहराई से सोचें, तो आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि लोकसंस्कृति की माय-मैर उसे जोड़ते हैं। समाज बिखरता है, लेकिन लोकसंस्कृति के उत्सव उसे एक करते हैं। देश बंटता है, लेकिन लोकसंस्कृति के गीत उसे समेटते हैं। लोकसंस्कृति जुड़ाव की संजीवनी बूटी है, जो साम्प्रदायिकता की शक्ति से घातक घाव का एकमात्र उपचार है।"[30]

व्यापीकरण को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं- "दरअसल, लोकभाषा और लोकवातावरण में लिपटा तिरंगा अंतरंग एक है। सभी अंचलों के लोकगीतों में संस्कारों की एकरूपता है, एक-से मानवीय रिश्तों की व्यंजना है और लोककल्याण का एक ही लक्ष्य है। प्रेम, त्याग, वीरता, बलिदान, भाग्य, कर्म, सतीत्व, शील जैसे लोकमूल्य सभी में मिलते हैं। सभी में एक लोकधर्म है, जो किसी भी स्तर पर साम्प्रदायिक नहीं है और जिसमें हर देवता सामान्य मानव बनकर अवतरित हुआ है। कुछ ऐसे विषय हैं जो सभी में समान महत्व पा गये हैं।"[31]

लोकनाट्यों का वैशिष्ट्य

सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक लोकनाट्यों का मूल स्वरूप आज नवीन प्रयोगों की पक्षधरता के कारण बहुत कुछ बदल गया है। लोकनाट्य और नाटक के अंतर की समझ न होने से भी शायद ऐसा हुआ है। लोकनाट्य का एक जनप्रिय रूप "स्वाँग" सभ्य माने जाने वालों की उपेक्षा का शिकार होता जा रहा है। अतः आवश्यकता है कि इसका आधुनिक संदर्भों में महत्व उजागर हो और उसके वैशिष्ट्य का विश्लेषण भी ताकि चेतना का यह स्त्रोत पुनः प्रतिष्ठित हो सके। डा. गुप्त ने इस आवश्यकता को गंभीरता से लिया और अपने आलेखों से इसकी पूर्ति भी की है। वे लिखते हैं कि- "लोकनाट्यों की परम्परा के अनुशीलन से साफ जाहिर है कि लोकनाट्य किसी खास सीमा में बंधने पर भी संचरणशील रहा है। उसने किसी भी अन्य जनपद में जाने के लिए कोई संकोच नहीं किया। उसकी जातीय चेतना में भी कुछ ऐसे विशिष्ट बिन्दु हैं, जो सभी जनपदों के लोकनाट्यों में जुड़ाव रखते हैं और विविधता में एकता के तथ्य को प्रमाणित करते हैं।"[32] बुंदेली के विशिष्ट लोकनाट्य स्वांग के संबंध में उसकी सार्वभौमिकता को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि- "बुंदेली क्षेत्र का विशिष्ट लोकनाट्य "स्वांग" है, जो सबसे प्राचीन होता हुआ भी नित नवीन रहा है। वह रहस, रामलीला, राई, कागंड़ा, भड़ैती और नौटंकी सभी में जुड़ता हुआ अपना योगदान करता रहा है। उसकी वस्तु और शैली में अजीब लोच है, जिससे वह हर जाति, हर सांस्कृतिक समवाय (पैटर्न) हर वर्ग और हर संप्रदाय के करीब बना रहा है।"[33]

29. राष्ट्रीय साहित्य की अवधारणा और बोलियों का साहित्य -डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, सायहत्य भारती- जुलाई-सित. १९९६ संपा. उा. विथाविंदु सिंह, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, पृ. ६६
30. सांस्कृतिक एकता और समकालीन लोककाव्य- डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, सांस्कृतिक एकता और समकालीन हिन्दी साहित्य, संपप- डा. राधावल्लभ शर्मा, शास. कमलाराजा कन्या स्नातकोत्तर महावि. ग्वालियर, पृ. ८२
31. वहीं, पृ. ८३
32. बुंदेलखण्ड की लोकनाट्य परम्परा -डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी, जन.- दिसं. १९९६ संपा-डा. जगदीश गुप्त-भाग ४७ हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृ. १७८
33. वहीं, पृ. १७८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"स्वाँग" के वैशिष्ट और सार्वकालिक व्याप्ति को विशेष महत्व देते हुए उन्होंने एक आलेख "बुंदेली लोकनाट्यः स्वांग" में पूर्वाग्रह की अवधारणाओं पर तीखा प्रहार करते हुए "स्वांग" के विकास, ऐतिहासिक यात्रा, वर्गीकरण, तत्व और वैशिष्ट्य, रूपयोजना, रंगमंचीय दृष्टि, आधुनिक संदर्भो से जुड़ाव और उसमें निहित सचेतनता आदि बिन्दुओं, अनेक संदर्भ और तर्को सहित सटीक विचार व्यक्त किये हैं, जिससे यह आलेख भी विशेष महत्व का बन गया है। वे लिखते हैं कि- "मतलब यह कि स्वांग को केवल ग्रामीण मनोरंजन कह कर टाला नहीं जा सकता और खासतौर से आज की सामाजिक चेतना एवं बदलते रंगकर्म की दृष्टि से जुड़े नये संदर्भो में वस्तुतः स्वांग सभी लोकनाट्यों में अपने कुछ खास स्वभाव और गुणों के कारण अधिक महत्वपूर्ण माना जाना चाहिये।"[34] बुंदेली स्वांगों की पहचान को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि- "तात्पर्य यह है कि बुंदेली स्वांग अपनी अभिनयमूलकता और यथार्थपरक व्यंग्यात्मकता के आधार पर विशुद्ध स्वांग की प्रतिष्ठा रखता है और इसी खास पहचान की वजह से अन्य जनपदों के स्वांग लोकनाट्यों के बीच उसका व्यक्तित्व सदैव स्मरणीय रहेगा।"[35]

ऐतिहासिक अनुशीलन

लोकसाहित्य की विभिन्न विधाओं के इतिहास का शोधात्मक अनुशीलन अभी तक लगभग उपेक्षित रहा है। यह निश्चित है कि लोकसाहित्य की रचना प्रत्येक युग में होती है, किन्तु रूपान्तरण हो जाने अथवा रचनाकार की छाप के अभाव में शोधात्मक प्रयास के बिना सहजता से पहचानना कठिन होता है। डा. गुप्त का प्रयास इस क्षेत्र में भी उल्लेखनीय है। इसी संदर्भ में मैंने उनके कुछ आलेखों का अध्ययन किया है। लोकभाषा के उद्‌भव और विकास की कहानी तथा बुंदेली का विदेशी भाषाओं से संघर्ष का शोधात्मक विवेचन उन्होंने पहली बार प्रस्तुत किया। उनका निष्कर्ष है कि 'तेरहवीं से सोलहवीं शती तक तीन सौ वर्षों का कठिन संघर्ष और उसके ऐतिहासिक दस्तावेज विष्णु पद और धवपद-लोकभाषा की यात्रा और देसी संगीत के प्रवर्तन के प्रामाणिक गवाह हैं'।[36] 'मध्यकाल की मध्यकालीन भाषा' नामक लेख में उन्होंने मध्यदेशीय भाषा के सही स्वरूप और मध्यकाल में बहुप्रचलित शब्दों के सही अर्थ को स्पष्ट किया है, जिससे लोकभाषा की ऐतिहासिक चेतना समझने में काफी सहायता मिलती है।

मध्ययुगीन लोककाव्य के प्रेरणा-स्रोत की तलाश करते हुए गुप्त जी ने संस्कृति के जीते-जागते संस्थान "अखाड़ों" की दीर्घ परम्परा ही खोज डाली। उनके विकास की ऐतिहासिकता और स्वरूप की विशेषता स्पष्ट करते हुए उन्होंने सबसे पहले यह मान्यता प्रतिष्ठित की कि 'इन अखाड़ों ने ही फड़काव्य, मंचीय लोकनृत्य और लोकनाट्य को संपोषित किया तथा हिन्दी रीतिकाव्य को जन्म दिया'। वे लिखते हैं कि- "इन अखाडों से ही एक और रीतिकाव्य का उद्‌भव हुआ तो दूसरी और फड़काव्य का।...... केशव की काव्य अस्मिता मध्ययुग के अंधेरे में जब अपना मार्ग तलाश रही थी, तब इन अखाड़ों ने उसे एक नई रोशनी दी और हिन्दी की रीति चेतना का प्रादुर्भाव हुआ।"

डा. गुप्त ने बुंदेलखण्ड में लोकनाट्य के विकास का इतिहास और विभिन्न लोकनाट्यों की परम्परा की खोज करके हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है। परन्तु बुंदेली लोकनाट्यों का उद्‌भव दसवीं शती से और तभी से विकास की निरंतर गतिशीलता रेखांकित की है। उनका मत है कि स्वांग सबसे प्राचीन है, राई मध्ययुग के प्रारम्भ का और भक्ति आंदोलन से प्रेरित रामलीला और रासलीला बाद के हैं। कानरा भक्तिपरक लीलाओं की प्रतिक्रिया में विकसित हुआ है। भड़ैती स्वांग का ही अंकुरी है, जो मध्ययुग के सामंती परिवेश में प्रचलित हुई

34. बुंदेली लोकनाट्यः स्वांग-डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, छायानट, अंक २९-३०, संपा-डा. शरद नागर, उ. प्र. संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ, पृ. २०
35. वही, पृ. २८
36. लोकभाषा के संघर्ष के ऐतिहासिक दस्तावेज- डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, कलावार्ता, अंक ४७, जन. १९८५ संपा- श्रीराम तिवारी, म. प्र. कला परिसद, भोपाल से प्रकाशित, पृ. ६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जबकि नौटंकी बीसवीं शती के प्रारंभ में आई। इन सबके विकास और वैशिष्ट्य की विवेचना करते हुए उन्होंने लोकनाट्य परम्परा के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत कर एक नया अध्याय जोड़ा है।[37]

डा. गुप्त ने पहली बार लोकसंस्कृति के विभिन्न अवयवों के इतिहास का अध्ययन प्रस्तुत किया। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय लोकवार्ता में शायद ही ऐसा प्रयत्न हुआ हो। असल में गुप्त ऐतिहासिक चेतना को सर्वाधिक महत्व देते हैं। उनका तर्क है कि- "इतिहास-चेतना लोक और लोकसंस्कृति के लिए इसलिए उपयोगी है कि उससे अतीत, वर्तमान और भविष्य की कालचेतना का मानचित्र सामने रहता है, जिससे लोक अपनी चेतना और आचरण के प्रवाह की दिशा तय करता है, इतना ही नहीं अनेक समस्याओं के समाधान में इतिहास-चेतना सहायक बनती है। इसी सार्थकता को ध्यान में रखते हुए गुप्त जी ने "आल्हा" लोकगायकी के इतिहास पर भी अपनी पैनी नजर रखी है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि लोकसंगीत और लोककलाओं का अनुशीलन तभी उपयोगी है, जब वह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया जाये।'

निष्कर्ष

उक्त संक्षिप्त, बेहद संक्षिप्त विश्लेषण से गुप्त जी की उपलब्धियों के कुछ बिन्दु ही रेखांकित किये गये हैं। वस्तुतः उनके सृजन की गहराई से समीक्षा आवश्यक है। लोकसाहित्य पर किये गये गुप्त जी के पहले के कार्यों को सामने रखकर यदि निरपेक्ष दृष्टि से निर्णय किया जाय, तो जो कार्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य में किया है, वहीं कार्य गुप्तजी ने लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य के क्षेत्र में किया है। वास्तव में, गुप्त जी को लोकसाहित्य का 'रामचंद्र शुक्ल' मानने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

37. बुंदेलखण्ड की लोकनाट्य परम्परा- डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी, दिस. १९८६, संपा- डा. जगदीश गुप्त, हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद से प्रकाशित, पृ. १६१-१७८।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ. श्यादसुंदर दुबे

लोक-संस्कृति की सैद्धांतिक व्याख्या और इतिहास-लेखन में डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त का अवदान

लोक-संस्कृति की सैद्धांतिक अवधारणाओं के साथ लोक-संस्कृति की साक्ष्यपरक इतिहास-चेतना के शोधात्मक निरूपण में प्रवृत्त प्रतिभाओं का हिन्दी-क्षेत्र में अभाव है। अभी तक जो लोक-संस्कृति का कार्य हुआ है, वह लगभग तीन दिशाओं वाला रहा है। लोक-संस्कृति से संबंधित लोक-जीवन के अनुषंगों का संकलन, संकलन के आधार पर उसका सांस्कृतिक और सामाजिक विश्लेषण और लोक-संस्कृति के पाश्चात्य सिद्धांतों का निरूपण इन दिशाओं में नृतत्वशास्त्र समाजशास्त्र और साहित्य के क्षेत्र की अलग-अलग प्रतिभायें ही क्रियाशील हैं और इस आधार पर इनमें अंर्तअनुशासनीय अंतः क्रियाओं का अभाव है, इसलिए लोक-संस्कृति पर समग्र दृष्टिपात के अभाव में उसकी सैद्धांतिक व्याख्या और उसके व्यवहारों से निष्पन्न विकसित चेतना के आधार पर इतिहास की मूलगामिनी शक्ति का अन्वेषण अभी तक अधूरा रहा है। लेकिन इधर इस तरह के अध्ययन अनुशीलन के प्रति रूझान बढ़ा है और हिन्दी लोक-साहित्य में कार्यरत् कुछ प्रतिभाओं ने अपने कृतित्व का विस्तार करते हुए उसे लोक-संस्कृति के समग्र पार्श्वो से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

इस तरह की प्रतिभाओं में डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त का नाम उल्लेखनीय है। डॉ. गुप्त ने यद्यपि बुंदेली लोक-साहित्य को मूलतः अपने कृतित्व का प्रस्थान-विन्दु बनाया, किन्तु वे अपने कृतित्व का निरन्तर विस्तार करते गये और बुन्देली लोक-संस्कृति के वे एक मात्र ऐसे अध्येता बन गये, जिन्होंने इस लोक-संस्कृति की सैद्धांतिक व्याख्या और इसके आधार पर इस अंचल के इतिहास-लेखन के लिए प्रामाणिक निष्कर्ष दिए हैं। इतिहास की अछूती, किन्तु अन्तर्वर्ती लोक-धारा के रूप में उनकी निष्कर्ष-निष्पत्तियां उन्हें लोक-संस्कृति के बहुआयामी अध्येता के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। वे बुन्देली लोक-संस्कृति के माध्यम से, एक तरह से इस देश की आत्मा की ही तलाश करते हैं। अतः उनका अध्ययन केवल बुन्देलखण्ड की सीमाओं से घिरा न होकर लोक-संस्कृति के अंचल-निरपेक्ष स्वरूप को ही उद्‌घाटित करता है।

उनके इस दिशा में किए गए महत् कार्य की साक्ष्य है, उनकी बहुचर्चित कृति "बुन्देल खण्ड की लोक-संस्कृति का इतिहास।" इस कृति के अलावा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में एतद् विषयक आलेख भी उनकी इस श्रम-साधना को उजागर करते हैं। लोक-संस्कृति की सैद्धांतिक व्याख्या का अधिकांश स्रोत पाश्चात्य धारणायें ही रही हैं। ये धारणायें भी समाजशास्त्र और नृतत्वशास्त्र के विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित थीं। हिन्दी में जो लोक-संस्कृति और लोक साहित्य पर शोध कार्य संपन्न हुए हैं, उनमें प्रायः इन पाश्चात्य धारणाओं से परिचालित प्रत्यय का ही समावेश हुआ है। डॉ. सत्येन्द्र जैसे विद्वानों द्वारा लोक-संस्कृति के अपने आधार तलाशने में जो अपूर्णत्व रह गया है, वह इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों के प्रभाव-क्षेत्र में आने के कारण है, अतः इनके द्वारा निकाले गए निष्कर्ष भी समुचित दिशा निर्देशक नहीं बन सके हैं और उनकी फलान्विति में लोक-संस्कृति की गत्वरता का भाव रह गया है। डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने लोकत्व के सन्दर्भ में ऐसी धारणाओं से असहमति प्रदर्शित करते हुए अपने सिद्धान्त की परिपुष्टि में समकालीन धारणाओं को भी रेखांकित किया है। वे लिखते हैं- "लोक की सही समझ के लिए लोकत्व का सही ज्ञान जरूरी है। लोक-संस्कृति, लोक-साहित्य और लोक-कला में निहित लोकत्व ही उनको लोकमय बनाता है।"

डॉ. सत्येन्द्र ने लोकत्व को लोक-मानसी स्थिति माना है। लोक-मानस को परिभाषित करते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हुए उन्होंने उसे यह मानसिक स्थिति कहा है, जो आदिम मानव की परम्परा में है और उसी का अवशेष है। गुप्तजी ने लिखा है कि "आदिम मानव की परम्परा में या उसके थोड़े-बहुत अवशेष के रूप में लोक-मानस को स्वीकार करने में संभवतः किसी को संकोच न हो, परन्तु उसे मान्य प्राकृतिक 'आदिम रूढ मूल मानस' मानना आपत्तिजनक है। किसी परम्परा में अथवा किसी के कुछ अवशिष्ट अंश निहित होना एक अलग बात है और केवल आदिम रूढ मानस होना दूसरी। अधिक विस्तार में न जाकर यह कहना उचित है कि लोक को आदिम मानव आदिम प्रवृत्ति आदिम मानस का पर्याय नहीं माना जा सकता। लोक से तात्पर्य उस लाक मानस या लोक प्रवृत्ति से है, जो सहज और प्रकृत मानरिक वृत्तियों की पुंजीभूत इकाई का रूप होता है।"

डॉ. गुप्त ने लोक-दर्शन, लोक-धर्म और लोक-मूल्यों की सैद्धांतिक व्याख्या के मौलिक प्रतिदर्श स्थापित किए हैं। लोक संस्कृति के ये तीनों आधार स्तम्भ हैं। इनके माध्यम से ही लोक-संस्कृति ग्रहण और त्याग के मध्य विकसित होती है। लोक-संस्कृति के ये आधार अपने समन्वय के कारण ही अपनी व्याप्ति को विस्तार देते हैं। इसी तरह वे लोक-व्यवहार के पक्ष में लोक-धारणा को महत्व देते हैं और इन्हें गत्वर मानते हैं। इनकी गत्वरता ही लोक-संस्कृति के सिद्धांतों और स्वरूप को युगीन आवश्यकता के अनुरूप बदलती रहती है। डॉ. गुप्त ने इस आधार पर लोक-पुरुष का जो रूपक प्रस्तुत किया है, वह लोक-संस्कृति की समग्र अवधारणाओं को प्रस्तुत करता है। वे लिखते हैं- "यदि लोक का मस्तिष्क लोकदर्शन है, लोक मूल्य उसकी बुद्धि, लोक धर्म उसकी आत्मा है तो लोक विश्वास उसके आस्थातन्तु, लोकाचार उसकी भुजायें हैं तो लोकगति और लोकावर्तन उसके चरण। इस रूपक के माध्यम से डॉ. गुप्त की सैद्धांतिक निरूपण-वृत्ति की सूत्रात्मकता संक्षिप्तता, सप्रेषणीयता और ग्राह्यता का सहज ही अनुमान लग जाता है।

एक सैद्धान्तिक व्याख्याकार को जिस तरह अपनी मान्यताओं और स्थापनाओं को रूपायित करने के लिए अपनी कल्पनादृष्टि का परिचय देना चाहिए, वैसी दृष्टि डॉ. गुप्त के पास है, जो उन्हें कोरा बौद्धिक व्याख्याकार नहीं रहने देती। वे सृजनात्मक चेतना संपन्न व्याख्याकार बन जाते हैं, जो एक व्याख्याकार के लिये आवश्यक गुण है। अपनी इसी सृजनशील समीक्षादृष्टि के कारण उन्होंने लोक को समझने में नये आलोक को उद्‌भापित किया है। वे इसी आधार पर डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय और डॉ. श्रीराम शर्मा की लेक विषयक परिभाषाओं पर अपनी असमति जताते हुए कहते हैं कि लोक को अशिक्षित, असभ्य, गंवार, आदिम आदि विशेषणों से संबोधित करना उचित नहीं है। शास्त्रों से बंधे शास्त्री अधिक रुढिग्रस्त होते हैं, जबकि लोकत्व से संप्रेरित लोक सहज अधिक स्वच्छंद, प्रकृत और ताजे रहते हैं।

डॉ. गुप्त ने लोक के सन्दर्भ में अनेक मौलिक निष्पत्तियां प्रस्तुत की हैं- जैसे लोक संस्कृति, विदेशी संस्कृति तथा युगबोध में अंतः क्रिया के परिणाम ही लोक की विकासशील चेतना के आधार हैं। लोक को राष्ट्रीय संस्कृति की मूलगामिनी शक्ति के रूप में देखना और परखना, लोक कलायें विशेष रूप से लोकगीत समूह का सृजन नहीं है, वे व्यक्ति का ही सृजन हैं, लोक संस्कृति के सामाजार्थिक स्वरूप की विवेचना के आधार पर लोकोत्सव, पर्वो, त्यौहारों का विश्लेषण आदि डॉ. गुप्त ने पूर्णतः वैज्ञानिक आधारों पर किया है। सैद्धांतिक दृष्टि से डॉ. गुप्त ने लोक-संस्कृति को आधार बनाकर ही किसी विशेष अंचल और क्षेत्र को एक इकाई माना है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र के निर्धारण में उन्होंने बुन्देली लोक संस्कृति की सीमाओं के आधार बुन्देलखण्ड की परिसीमायें निर्धारित की हैं। यह सीमांकन निश्चित ही सांस्कृतिक संपन्नता के सम्पूर्ण विकास का आधार बन सकता है। इसे लेखक ने समशीला इकाई का नाम दिया है।

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने इतिहास विषयक दृष्टिकोण को लोक संस्कृति से जोड़कर इतिहास के क्षेत्र में एक महत् कार्य किया है। यद्यपि लोक संस्कृति की इतिहास चेतना को आधार बनाने की जरूरत बहुत पहले से अनुभव की जाने लगी थी। कर्नल टाड ने वस्तु-संग्रहण के आधार पर राजस्थान के इतिहास को समझने की चेष्टा की थी, किन्तु वे पूरी तरह इतिहास चेतना के मूल में सम्पूर्ण लोक को न तो तलाश पाये थे और न ही उनकी ऐतिहासिक अवधारणाओं का सही इस्तेमाल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही क़र पाये थे। मैं यहां कर्नल टाड के कार्य को गैरमहत्वपूर्ण नहीं मान रहा हूँ। उन्होंने खूब परिश्रम किया और एक तरह से लोक की समग्रता को इतिहास चेतना के लिए प्रयुक्त करने की आधार भित्तिका निर्मित की है। डॉ. गुप्त ने लोक संस्कृति को इतिहास क़ी प्रामाणिकता से जोड़ा और लोक संस्कृति की महत्ता को प्रतिपादित किया। वस्तुतः लोक संस्कृति ही इतिहास की परिवर्तनशीलता में कारगर भूमिका का निर्वाह करती है।

हमारा जो इतिहास लिखा गया, वह अंग्रेजों की अवधारणाओं पर ही अवलंबित रहा है। इतिहास के प्रति अंग्रेजों का दृष्टिकोण भी उपनिवेशवादी था; अतः हमारी इतिहास विषयक जानकारी उपरंगी और दिग्भ्रमित करने वाली ही अधिक है। इतिहास का विकास जिन आंतरिक सचाईयों से शक्ति पाता है, उन आंतरिक सच्चाईयों से हमारा इतिहासकार रूबरू नहीं हो पाता है। दरअसल, लोक-संस्कृति के माध्यम से इतिहास-विकास की सच्चाईयों को पकड़ा जा सकता है। वस्तुतः यह इतिहास में सामान्यजन की भागीदारी की तलाश है, जो इतिहास को नई व सार्थक दिशा देने वाली है। कम-से-कम भारतीय इतिहास को यदि उसके असल रूप में देखना है तो लोक संस्कृति से उद्‌भूत इतिहास-साक्ष्यों और इतिहास-सत्यों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। लोक-संस्कृति का इतिहास हमारी इतिहास संबंधी दृष्टि को न केवल विकसित करता है, अपितु इतिहास के भीतर निहित द्वन्द्वात्मक शक्तियों की सही पड़ताल करने में सहायक सिद्ध होता है।

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने बुन्देली लोक-संस्कृति के इतिहास पर जो महत्वपूर्ण काम किया है, वह इसी ओर संकेत करता है। वे स्वयं भी मानते हैं- "लोक संस्कृति का इतिहास-लेखन असंभव समझा गया है, इसलिए उसकी चर्चा करना तक उपयुक्त नहीं माना गया। वस्तुतः लोक-संस्कृति में निहित लोक मूल्यों, लोकाचरण, लोक जीवन, लोक साहित्य और लोक कलाओं जैसे अंगों-उपांगों में व्यक्ति भागीदार होता हुआ भी अधिकतर अदृश्य रहा है। यदि कहीं उसकी छाप या पहचान मिलती हैं, तो उसका परिचय नहीं प्राप्त होता। इस वजह से तिथिवार इतिहास खोजना तो कठिन है, पर कालखण्डों या युगों के अनुसार लोक संस्कृति के विकास की नामजोख की जा सकती है,। लोक साहित्य के अन्तर्गत लोकगीत लोक गाथाओं आदि और लोक कलाओं में परिभाषित लोक चित्र, लोक मूर्तियां, लोक संगीत आदि लोक संस्कृति के प्रामाणिक अभिलेख हैं; जिनका काल-निर्धारण मोटेतौर पर कालखण्ड में किया जा सकता है और उसी आधार पर लोक संस्कृति का इतिहास क्रमबद्ध रूप से लिख जा सकता है। अगर सच कहा जाए तो किसी युग की लोक संस्कृति या लोक-चेतना और लोकाचरण का इतिहास ही सच्चा इतिहास है, वह देश की बहुसंख्या जनता का इतिहास होने के कारण देश का सही इतिहास भी है।"

इतिहास की इस अन्तर्वर्ती शक्ति को खोजने के लिये लोक साक्ष्यों की जरूरत होती है। डॉ. गुप्त ने लोक-साक्ष्यों को लोकमान्य साक्ष्यों की श्रेणी में रखा है और इन्हें ही प्रामाणिक एवं पक्षपातरहित माना है। अव्वल तो इतिहासकार लोक-साक्ष्यों को महत्व नहीं देते और यदि देते भी हैं, तो उनका अपने पक्ष में अर्थ निकाल लेते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि इतिहासकार के पास लोक-संस्कृति को समझने की भी गहन दृष्टि होनी चाहिए, इसके अभाव में उसे लोक-साक्ष्यों की मनगढ़त प्रसंगोद्‌भावनायें ही अभिप्रेत होगीं। डॉ. गुप्त ने लोक साक्ष्य के महत्व को स्वीकार करते हुए उन्हें इतिहास के भ्रमात्मक प्रसंगों को निबेरने में सहयोगी बताया है। उन्होंने लोक-साक्ष्यों को एक प्रजातांत्रिक इतिहास की रचना में महत्वपूर्ण अंग की तरह स्वीकार किया है। वे स्पष्ट करते हैं कि सत्ता के द्वारा या सत्ता के दबाव में निर्मित साक्ष्य कितना सत्य है। यह खोज इतिहासकार का विषय है; लेकिन तत्कालीन लोक साक्ष्य उसकी सहायता कर सकते हैं और इतिहास की कई भ्रांतियां दूर हो सकती हैं। लोक साक्ष्यों के गलत संदर्भ स्वीकार कर लेने के कारण इतिहास में अनेक विचलन और भ्रांतियां भी निर्मित हो जाती हैं।

इस प्रसंग में एक उदाहरण डॉ. गुप्त ने प्रस्तुत किया है- बुन्देलखण्ड में महोवा के मनियेंदिव को प्रसिद्ध इतिहासकार बी.ए. स्मिथ ने मनियां देवी माना है और इसके आधार पर चंदेलों की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्पत्ति आदिवासी गौंड़ या भर से सिद्ध कर दी है। उसने उन्हें हिन्दू आईज्ड गौड़ कहा है, लेकिन लोकमुख और लोक गाथा में मनियांदेव को मनियांदेवी कभी नहीं माना गया। दूसरे मनियांदेव के बारे में एक जनश्रुति प्रसिद्ध है कि वे मणिवाले देवता हैं। ये मणि वाले यक्ष ही बाद में मणिभद्र यक्ष कहलाये। बुन्देलखण्ड में मणिभद्र यक्ष की पूजा होती रही है। डॉ. गुप्त ने अपने इस निष्कर्ष के लिये पुष्ट प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। वे लिखते हैं कि बुन्देलखण्ड में मणिभद्र यक्ष की पूजा के भी लोक-साक्ष्य मिलते हैं। चंदेल-नरेश परमर्दिदेव के मंत्री और नाटककार वत्सराज के 'कपूर्रचरित भाण' में उनकी पूजा को प्रमुख उत्सव के रूप में वर्णित किया गया है। नागकाल की यक्ष मूर्तियां भरहुत स्तूप और पवायाँ या पद्मावती में मिलती हैं। इस तरह यक्ष पूजा की परम्परा यहां ईसा पूर्व पहली शती में प्रचलित रही है। इन सभी साक्ष्यों के आधार पर डॉ. गुप्त ने मनियांदेव के सन्दर्भ में एकदम सही और सटीक दृष्टिकोण व्यक्त किया है तथा एक गलत मान्यता का खंडन भी किया है।

विद्वान लेखक ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को भी इस क्षेत्र की लोक परम्पराओं के आधार पर भी कहीं-कहीं एकदम नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। जैसे हिन्दी के रीतिकाल को ही वे अखाड़ा परम्परा से जन्मी परम्परा के रूप में ग्रहण करते हैं। उन्होंने माना है कि महाकवि केशव ने 'कवि प्रिया' की रचना अखाड़े के लिए की थी। केशव अखाड़े के गुरु थे और उन्होंने अखाड़े को काव्य-शिक्षा प्रदान करना अपना दायित्व माना, इसी आधार पर वे निष्कर्ष देते हैं- "अतएव बुन्दलेखण्ड में रीति काव्य का विकास मुगल शासन के परिणामस्वरूप उत्पन्न शान्ति और समृद्धि तथा अन्य सुफलों से नहीं हुआ, वरन् उसके प्रस्फुटन के कारण दूसरे ही थे। यह तो स्पष्ट ही है कि केशव की प्रेरणा का प्रमुख स्रोत अखाड़ा था। अतएव बुन्देखण्ड में रीति-काव्य का उद्‌भव, विकास और उत्कर्ष इन्हीं अखाड़ों से हुआ था। इस आधार पर रीतिकाव्य के उत्स पर पुनर्विचार अपेक्षित है और मेरी मान्यता है कि ये अखाड़े ही उसके विकास के जिम्मेदार थे।"

डॉ. गुप्त की इतिहास दृष्टि बहुत व्यापक है। उन्होंने लोक के इतिहास-दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया, अपितु इसके सैद्धांतिक आधारों को भी तलाशा है। सिद्धांतों के रूपायन हेतु उन्होंने लोक-संस्कृति के अनेक घटकों का न केवल अध्ययन अनुशीलन और संग्रहण किया, बल्कि इनके समञ्जित सुधी निष्कर्ष से लोक की इतिहास-चेतना को अभिव्यक्त किया। लोक मूल्य, लोक विश्वास, लोक धर्म, लोक वार्ता, लोकोत्सव, लोक साथहत्य आदि के आधार पर लोक की जातीय स्मृतियों (रेसियल कान्ससनेश) के भीतर निहित एक अनकहे इतिहास को उन्होंने उजागर किया है। डॉ. गुप्त का इतिहास विषयक एक और अवदान यह रहा है कि उन्होंने लोक-साहित्य की विलुप्तप्राय अनेक परम्पराओं को महत् गवेषणा के साथ उनके सांगोपांग रूप में प्रस्तुत किया है, चाहे वह आल्हा की गायकी परम्परा हो, चाहे फाग परम्परा हो, चाहे लोक-नृत्य की परम्परा हो। वैसे तो इस दृष्टि से अनेक विश्वविद्यालयों में शोध कार्य संपन्न होते रहे हैं, इन शोध-कार्यो की पिष्टपेषण प्रवृत्ति और इनकी जड़ता ने इस तरह के शोध कार्यो का महत्व कम कर दिया है। निश्चित ही डॉ. गुप्त ने इन शोध कार्यों की महत्ता अपने अथक श्रम के द्वारा स्थापित की है।

राष्ट्र की समग्र संस्कृति को समझने के लिये लोक संस्कृति आंख की पुतली में निहित तिल का कार्य करती है। इतिहास विषयक चिंतन तभी समग्र बनता है जब उसमें सांस्कृतिक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों को भी सम्मिलित कर लिया जाये। एक तरह से यह जरूरी है कि इतिहास सांस्कृतिक और सामाजिक विकास को स्पष्ट करे, वह अपने वर्ण्य काल की समूह मानसिकता भी उद्‌घाटित करे। इस तरह से यदि इतिहास की धारणा को व्याख्यायित किया जाये, तो शायद हम इतिहास-चक्र के भीतर गति को प्रगट करने वाली चलित ऊर्जा का भी अनुमान लगा पायेंगे। डॉ. गुप्त ने लोक-संस्कृति के इतिहास के माध्यम से इतिहास को फैलाव दिया है और उसके विस्तार के आपंग भी प्रकट किए हैं।

सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने अपने इतिहास विषयक चिंतन को निरपेक्ष और लोकवादी रहने दिया है। उन्होंने अपने निष्कर्षो में अनाविल दृष्टि और गंभीर चिंतन का परिचय दिया है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतः उनके निष्कर्ष एक देशीय और एक स्थानीय नहीं रहे हैं। यदि वे बुंदेली लोक-संस्कृति की बात करते है, तो उसके साथ भारतीय संस्कृति को भी जोड़कर देखते हैं। डॉ. गुप्त सिद्धांतों को प्रतिपादित भी करते हैं और उन्हें व्यवस्थित भी करते हैं। वे इतिहास की अन्तर्शक्ति के शोधक भी हैं और इसी आधार पर वे इतिहास को नये कोण से देखते हैं। इस सबके लिये वे एक गंभीर अनुसंधित्सु की तरह सक्रिय रहते हैं। वे एक सुधी रिसर्चर हैं। सामग्री संकलन से लेकर विवेचन, विश्लेषण और स्थापन तक वे संयत और तर्काश्रित विवेक का ही सहारा लेते हैं। उनकी शोध के आधार प्रमाण-पुष्ट हैं। प्रमाणों के लिये उन्होंने लोक-साहित्य की मौखिक परम्परा से लेकर लिखित साहित्य के अनेक प्रमाण अपनी शोध-यात्रा के लिये पाथेय के रूप में ग्रहण किये हैं। संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत से लेकर। बुंदेली तक के उद्धरण उन्होंने अपने स्फुट शोध निबंधों में तथा अपने ग्रन्थों में प्रयुक्त किए हैं। उन्होंने विभिन्न कला-माध्यमों, पुरातात्त्विक एवं प्रागैतिहासिक आकल्पन के भी पुख्ता उदाहरण ग्रहण किये हैं।

वे बुंदेली लोक संस्कृति के लिये विजातीय पुरुष नहीं हैं और न ही वे बौद्धिक अतिचार के शिकार हैं। वे लोक-संस्कृति के न केवल अध्ययेता हैं, अपितु उनके मन में बुंदेली लोक-संस्कृति के प्रति अपनत्व का गहरा भाव है इसीलिए वे कोरे सिद्धांतवादी नहीं हैं और न ही वे अपने इस तरह के लेखन के लिये केवल टेबुल वर्क का सहारा लेते हैं। वे स्वयं गांव-गांव चलकर अपनी सामग्री को प्रथम स्रोतों से ही ग्रहण करते हैं। इन कथनों का ये अर्थ कदापि न लिया जाये कि बुंदेली के प्रति उनकी आसक्ति उनके द्वारा दी गयी स्थापनाओं में उनकी पक्षधरता को व्यक्त करती होगी। वे लोक-संसकृति की नीर-क्षीर विवेक दृष्टि से भी आपूरित हैं, इसलिए भी उनका बुंदेली मोह उनके शोध को बाधित नहीं करता है। वे ऐसे अवसरों पर स्वयं कहीं उपस्थित नहीं होते हैं, होते हैं तो उनके प्रमाण, उनके तर्क और उनके निर्दोष निष्कर्ष। उनकी यही विशेपतायें उनसे लोक-संसकृति की इतिहास-चेतना पर अद्वितीय कार्य करा सकी हैं।

उनकी भाषा शोध के प्रतिमानों के अनुकूल है। कुछ अंशों में उससे भी आगे। वे केवल समीक्षक या शोधकर्त्ता होते, तो शायद उनकी भाषा शोध की शुष्कता से परिपूर्ण होती, किन्तु वे एक सर्जक भी हैं। उन्होंने सर्जनात्मक साहित्य की रचना करते हुए अपनी भाषा की सृजन शक्तियों का विकास किया है और वे जब इन शक्तियों का इस्तेमाल अपनी शोध-भाषा के लिये करते हैं, तब उनकी शोध-भाषा मात्र तथ्य प्रस्तुत करने वाली नहीं होती हैं, उसमें निहित सर्जनात्मकता पाठकीय आकर्षण से परिपूर्ण रहती है।

डॉ. गुप्त का इतिहास-बोध बिल्कुल आधुनिक है और वे इतिहास की नई संवेदनाओं की तलाश में तत्पर हैं। लोक पर पड़ रहे आधुनिक दबावों को भी वे अनुभव करते हैं और लोक की रक्षा की चिंता भी उनके पास है; अतः उनके लोक-संस्कृति के इतिहास विपयक अध्ययन की संपूर्ण गहराई को यदि हम बहुत संक्षिप्त में कहना चाहें तो उन्हीं के शब्दों में- "इतिहास का अवगाहन पूरे व्यक्तित्व की खोज है, उसके व्यक्तित्व में आत्मसात संस्कृति और लोक संस्कृति के प्रवाह का मूल्यांकन है। लोक-संस्कृति और लोक-साहित्य को पुराना और अपरिवर्तनीय मान लेने से तमाम भ्रांतियां अमरबेल की तरह लोक-संस्कृति की छतनार विटपी को निगल रही हैं। अगति और जड़ता की इस मानसिकता से बचने के लिये लोक-संसकृति के इतिहास की जरूरत है।"

डॉ. श्याम सुन्दर दूबे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वसन्त निरगुणे

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त : बुंदेली लोककलाओं के बहाने

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त एक ऐसा नाम है, जिन्होंने साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कार्य करने और शोध करने में अपनी निजी शैली विकसित की। डॉ. गुप्त एकेडिमीशियन भी उतने ही बड़े हैं, जितने बड़े कि लेखक, सम्पादक और सर्वेक्षणकर्त्ता। भारत में इस तरह के लोकप्रतिभा के धनी बड़ी मुश्किल से गिने-चुने ही व्यक्ति मिलेंगे, उनमें से डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त का नाम मैं सबसे अग्रणी और शीर्ष पर मानता हूँ। यह अकारथ नहीं है। मैं डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त के कार्य, लेखन और सम्पादान को बहुत पहले से देखता रहा हूँ। जहाँ बुंदेली संस्कृति, साहित्य, कला की जरा सी भी चर्चा चलेगी, वहाँ डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता रहेगा।

मध्यम कद काठी के सदैव धोती कुर्ते का परिधान धारण करने वाले डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त के व्यक्तित्व की एक खास पहचान बन गई है। आँखों पर चश्मा, पैरों में काले जूते पहने तथा हाथ में एक सफर बैग लिए वे कभी भी कहीं भी सहज नमूदार हो सकते हैं। यदि आप परिचित न हों, तो आकर पास खड़े हो जायें, तब भी आप उनको नहीं पहचान सकते, क्योंकि उनमें रहन-सहन, आचार-व्यवहार और चरित्र की सादगी और उदात्तता जितनी चरम सीमा है, किसी प्रोफेसर में दुर्लभ है। ओठों पर मुस्कान और चश्में के अंदर से हँसती हुई उनकी आँखों में झाँककर किसी ने गौर से देखा हो, तो पता लगेगा कि हम ज्ञान के किसी गहरे सागर की लहरों को आंदोलित होते हुए देख रहे हैं, जो अपने अनमोल रहस्य भी छिपाये हुए हैं। बस उसमें गोता लगाने की जरूरत है।

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त बुंदेली संस्कृति और साहित्य के संवेदनशील अध्येता और लेखक हैं। बुंदेली लोककलाओं से डॉ. गुप्त का संबंध मिट्टी और उसकी सौंधी सुगंध का है, इसलिए डॉ. गुप्त ने अपने आसपास की बुंदेली लोककलाओं पर भी उसी एहसास के साथ गंभीरता से कलम चलाई है। वे जहाँ एक सफल अध्यापक हैं, वहीं सफल लेखक भी हैं। पठन-पाठन की उन समस्त गंभीर गतिविधियों से गुजरते हुए गुप्त जी ने अपने अध्यापकीय शिखरों को भी स्पर्श किया है, उनकी दिशा और दृष्टि में सदैव एक व्यापक खुलापन और अपनापन रहा है, जहाँ एक शिक्षक को पहुँचना चाहिए। पहले दस वर्ष अंग्रेजी फिर पच्चीस वर्ष हिन्दी के प्राध्यापक के रूप में समर्पित भाव से निमग्न अनुभूत ज्ञान अपने विद्यार्थियों को डॉ. गुप्त ने दिया है। विद्या के इस अमूल्य अवदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। श्री गुप्त ने अपने बुंदेली संस्कारों को शिक्षा-पद्धति में कुछ इस तरह अन्तर्निहित किया, जिसके कारण उनके विद्यार्थी संस्कारों के माध्यम से शिक्षा की उन ऊँचाइयों को प्राप्त कर सके, जो भारतीय संस्कृति की परम्परा का अटूट हिस्सा रही है। इस देशीय दृष्टि के कारण वे अध्यापक के रूप में भी देश में सबसे अलग पहचाने जाते हैं। उनकी शोध-दृष्टि निरी अकादमिक नहीं है, उन्होंने अकादमिक पद्धति को बहुत कुछ लोक व्यावहारिकी के साथ मिलाया है, इसलिए लेखन में गंभीरता के साथ लोकानुरंजन की परिपाटियाँ सदैव मौजूद रही हैं।

किसी भी विषय, खास कर बुंदेलखण्ड की लोककलाओं पर श्री गुप्त जी ने जब भी लिखा, पूरी प्रामाणिकता और समूची जानकारियों के साथ लिखा है। बुंदेलखण्डी संस्कृति की कोई भी लोकविधा नहीं है, जिस पर श्री गुप्त जी ने अपनी प्रामाणिक कलम न चलाई हो। गुप्त जी ने अपने लेखन में दोयम दर्जे के हल्के-फुलके अथवा चलताऊ लेखन के साथ कभी समझौता नहीं किया। वे बुंदेली साहित्य, संस्कृति तथा लोककलाओं के पहले नवीन व्याख्ययाकार, भाष्यकार, और सृजनकार है। साहित्यजगत में बुंदेली लोकविधाओं के पहले शोधकर्त्ता और पहचानकर्त्ता हैं। गुप्त जी के लेखन की भाषा बुंदेली बोली की कोख से जन्मी है, इसलिए उनके लेखन में लोकसंस्कृति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की व्याप्ति और दीप्ति समाहित होती है। संस्कृति के विभिन्न रंगों की छटा गुप्त जी के लेखन में सर्वत्र बिखरती है। लोकसाहित्य, लोकसंस्कृति, लोककलाओं के व्यापक संदर्भों कं श्रेय भी नर्मदा प्रसाद गुप्त को ही है साहित्य में बुंदेली लोकविधाओं को बराबरी के साथ प्रतिष्ठित करने का कार्य डॉ. गुप्त पिछले ३५-४० वर्षों से निरंतर कर रहे हैं।

गुप्त जी ने अपनी निजी लेखन-शैली का एक ऐसा सेतु विकसित किया है, जहाँ से लोकसंस्कृति, लोककला और साहित्य से लोक के तटबंधों पर आसानी से पहुँचा जा सकता है। सेतु दो तटबंधों को जोड़ता है, गुप्त जी का लेखन-सेतु मनुष्य और संस्कृति एवं कला को एक ऊँचाई पर जोड़ता है। बुंदेली संस्कृति और लोककला के विविध पक्षों अनुष्ठान, पर्व-त्योहार, परम्परा, रीतिरिवाज और वाचिक परम्परा के व्यापक आयामों पर प्रमाणों के आधार पर लेखन-कार्य से गुप्त जी ने देश के अध्येताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्पित किया है। देश में उन जैसे विरले ही अध्येता, लेखक और शोधकर्त्ता होंगे, जो एक साथ इतिहास, लोकसंस्कृति और लोककलाओं के सामन्जस्य, समकालीन दृष्टि, सौंदर्यबोध के साथ समान रूप से अपनी रसमय पकड़ रखते हैं। यही कारण है कि गुप्त जी के लेखन और व्यक्तित्व से युवा पीढ़ी सदैव अभिप्रेरित रही है। भविष्य में भी प्रेरणा लेती रहेगी। श्री गुप्त अपने बुंदेली संस्कारों को पहले रखते हैं। उसके आधार पर विचार करते हैं, शोध करते हैं और फिर उन्हें शब्द देते हैं। निरर्थक और अतिरंजित शब्द और वाक्यों का प्रयोग गुप्त जी के लेखन में नहीं है। इसलिए उनके लेखन में सम्पूर्णता और समग्रता की अनुभूति का एहसास सदैव रहता है। हालाँकि गुप्त जी ने अपने लेखन में सम्पूर्णता का दावा कभी नहीं किया, उनका मानना है कि- "मैं उठाये विषय की तह तक पहुँचने के लिए ईमानदार विनम्र कोशिश करता हूँ और सार्थक से सार्थक शब्द देकर अपने आत्मिक न्याय तक पहुँचने का प्रयत्न करता हूँ।" इस कोशिश में पाठक को ऐसा लगता है कि मैंने विपय के न्याय किया है। यह पाठकों की मुझ पर अपरिमित अनवरत कृपा ही है।" विचार और अनुभूति के धरातल पर भी गुप्त जी अपनी धरती, संस्कृति और परम्पराओं से कभी विलग नहीं होते, बल्कि उसकी व्याख्या और संरक्षण में ठेठ उन मूल लोकतत्वों को बचाये रखने का प्रयास करते हैं, जो लोकसंस्कृति को गढ़ने का निरंतर जीवन्त कार्य करते हैं। इसके कारण डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त अपने लेखन में कई लोकविधाओं की नई परिभाषा अनायास गढ़ देते हैं। जैसे उन्होंने लोकसंस्कृति के बारे में लिखा है - "लोकसंस्कृति लोक की संस्कृति है, किसी उच्च या विशिष्ट वर्ग की नहीं। अतएव उसमें वर्ग वैषम्य के लिए कोई स्थान नहीं। लोकमूल्य हो चाहे लोकाचरण, वे सबके लिए एक से हैं। चाहे गरीब हो चाहे अमीर, लोकसंस्कृति और लोकोत्सव सबके लिए एक अर्थ रखते हैं सबके लिए एकसा लोकसाहित्य और एकसी लोककला।" मतलब यह है कि लोकसंस्कृति में वही सब कुछ होता है, जो लोकमान्य और लोकगृहीत हो। लोकसंस्कृति के लोकमूल्य किसी सम्प्रदायतत्व या जातीय मान्यता से नियंत्रित नहीं होते।

लोकसंस्कृति के जातीय मूल्यों को अक्षुण्ण रखने के लिए निरंतर चिंतित गुप्त जी के जीवन का एक-एक पल लोकार्पित हैं। वे सदैव लोककलाओं की पहचान और कसौटी की दिशा में सक्रिय हैं। उन्होंने बुंदेली लोककलाओं की आत्मिक ऊर्जा और शक्ति को पहचान कर उन्हें विश्व की लोकसंस्कृति के सम्मुख कसौटी के साथ रखा है। उन्हें बराबरी का दर्जा दिया है। उन्हें संवेदनशील जगत की लोकमनीषा में उसी तरह उतारा है, जिस तरह बुंदेली लोकाचरण में व्यवहृत है। इसके कारण उनके लेखन में मानवीय विश्वसनीयता और लोकानुष्ठानिक निष्ठा का लोकदर्शन समाहित है। फलस्वरूप गुप्त जी का लेखन लोकचेतना को बहुत गहरे तत्वों तक झकझोरता ही नहीं, कुछ करने के लिए उद्यत भी करता है, क्योंकि केवल मनुष्य होता है और यह मनुष्यत्व की सम्पूर्ति में लगा रहता है।"

लेखन को मैं एक ईश्वरीय देन मानता हूँ, उसे प्रतिभा भी कह सकते हैं। लेखन तो हजारों लोग करते हैं, लेकिन ऐसे कितने लोग हैं, जो अपने लेखन के कारण पहचाने जाते हैं अथवा लेखन के शीर्ष पर पहुँचते हैं या जिनके लेखन में वे केन्द्रीय शिखर बनते हैं, जो कला, संस्कृति, साहित्य,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दर्शन आदि समस्त लोक को समेटे सबसे अलग दिखते हैं। नर्मदा प्रसाद गुप्त जी देश के ऐसे ही लेखकों में से एक हैं, जिनकी प्रतिबद्धता लोकसाहित्य, संस्कृति और लोककलाओं के प्रति है और जिनकी असली नियति बुन्देली लोकक्लाओं के प्रोत्साहन, विस्तार और संरक्षण की है।

बुन्देली लोकगायकी लेद के बारे में गुप्त जी ने जो लिखा है, उसमें उनकी शोधपूर्ण दृष्टि दिखाई देती है- "लेद" में ध्रुपद के स्वर की स्पष्टता, धमार की लयकारीता, ख्याल की कल्पनात्मकता, ठुमरी की चंचलता और दादरे की वक्रता का अद्भुत सामन्जस्य रहता है, इसलिए लेद की गायकी लोक हृदय को तुरन्त छू गई, लेकिन लोकसंगीत ने उसे दादरा-कहरवा ताली में ढालकर अपनाया।" इस उद्धरण से गुप्त जी की संगीत की समझ का ज्ञान होता है। लेखन में गुप्त जी की स्पष्ट सोच और पारदर्शी निर्णय सभी जगह मिलते हैं। अपनी अर्थगर्भी भाषा के साथ- "लोकसंगीत में अतीत का इतिहास, वर्तमान की वास्तविकता और भविष्य का आदर्श अपने में इस तरह संजोये रहता है, जैसे कस्तूरी मृग अपनी नाभि में कस्तूरी। उस कस्तूरी की उपलब्धि मृग को जीवित रखने में है, उसे आखेट में मारने में नहीं। उसके लिए वही परिवेश, वही जलवायु और वही जीवन जरूरी है, जो कस्तूरी बनाता है और समाज को अपनी गंध से संजीवनी देता है। समाज का कर्त्तव्य है कि ऐसे ही वनोधान खड़े करें।"

गुप्त जी एक प्रखर अध्येता, विश्लेषक और अध्यापक हैं जिनकी दृष्टि पारम्परिक होते हुए वैज्ञानिक है। किसी भी विषय को छोटे-छोटे उपशीर्षकों में बांधकर लिख देना गुप्त जी की प्रमुख विशेपता है, फिर चाहे इतिहास, वाचिक परंपरा अथवा कला परम्परा की कोई भी विधा हो। लोकसंस्कृति, कला और साहित्य भी उसी का अभिन्न अंग हैं। बुंदेली संस्कृति और लोकलाओं के बहाने डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त उस लोकसंस्कृति की ही तलाश कर रहे हैं, जो सच्चे अर्थों में मनुष्य की भी तलाश है और यह तलाश अभी निरंतर जारी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बलभद्र तिवारी

संस्कृति की अष्टकोणीय परिवीक्षा : बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति का इतिहास

आज साहित्य में जब विद्वान उत्तर-आधुनिकता की बात कर रहे हैं और विदेशी विद्वानों के सिद्धांतों के आधार पर वर्तमान साहित्य में पुरोगामी होने और संस्कृति के संस्पर्श करने का उपक्रम कर रहे हैं, एक महती आवश्यकता हमें अपने लोक साहित्य, लोकसंस्कृति और लोकधर्म की ओर खींचने लगी है। भारतीय संस्कृति को दर्शन, वास्तुकला, चित्रकला, संगीतकला, मूर्तिकला आदि के परिप्रेक्ष्य में बार-बार परखने की चेष्टा की गई। लोकसाहित्य को शिष्ट साहित्य को प्रेरणा देने वाला माना गया, परंतु समाजशास्त्रियों और नृतत्वशास्त्रियों को छोड़ दिया जाये तो लोकसंस्कृति के इतिहास पर मध्यप्रदेश के किसी भी जनपद में प्रभूत एवं वैज्ञानिक कार्य नहीं किया गया। बुंदेलखण्ड मध्यप्रदेश के उस भू-भाग को समाहित करता है, जो महाभारत काल के दशार्ण, चेदी और शूरसेन जनपदों के रूप में जाना गया है। इस दृष्टि से भी बुंदेलखण्ड का लोकसंस्कृति-परक इतिहास आज के इस मीडिया युग में अनिवार्य अपेक्षा बन गया है।

भारत की लोकसंस्कृति में बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति विशिष्ट स्थान रखती है और उसे युगों से राजनीतिज्ञों, इतिहासकारों और दार्शनिकों ने कभी भी गंभीरता के साथ नहीं लिया है। हिन्दी की बोलियों और उनके बोले जाने वाले प्रदेशों की साहित्यिक, सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय सम्पदा को बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में दोहन किया और साहित्य, व्याकरण, भाषा या लोकसाहित्य का परिचय देने वाली लघुकाय कलेवर की कृतियां सामने आई, परंतु लोकसंस्कृति सन् १९६० तक अछूती ही रही। प्रसिद्ध बुंदेली कवि रामचरण हयारण 'मित्र' ने बुंदेलखण्ड की संस्कृति शीर्षक से एक ग्रंथ लिखा, पर यह भी लोकसंस्कृति की आत्मा से परिचित नहीं कराता है। अन्य विद्वानों में डॉ. रामेश्वर अग्रवाल ने भाषा पर, श्री कृष्णानंद गुप्त ने बुंदेली कहावतों पर, पं. गौरीशंकर द्विवेदी "शंकर" ने बुंदेल वैभव भाग १,२,३,४ में कवियों और साहित्यकारों पर, पं. लोकनाथ सिलाकारी ने बुंदेली व्याकरण पर, पं. हरिहरनाथ द्विवेदी ने चौदहवीं शताब्दी के साहित्य, विष्णुदास, ग्वालियरी आदि पर, प्रो. बलभद्र तिवारी ने बुंदेली लोककाव्य, बुंदेली लोककथाओं, बुंदेली के शिष्ट काव्य की परम्परा तथा लोकसाहित्य और शिष्ट साहित्य के आधार पर बुंदेली समाज और संस्कृति पर शोधपरक कार्य किया, परंतु जिस रूप में बुंदेली लोकसंस्कृति के इतिहास पर कार्य अपेक्षित था, उसकी इन सभी विद्वानों के कृतित्व में कमी बनी रही। बुंदेली लोकसंस्कृति के विविध पक्षों को अलग-अलग रूप में बार-बार उठाया गया, परंतु शोधपरक सघन कार्य पहली बार डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त की पुस्तक बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति के योगदान का विशेष परिचय कराती हैं।

डॉ. कपिला वात्सायन ने पुस्तक में दो शब्द लिखकर इसकी शोधस्तरीयता पर अपने विचार दिए हैं और एक संकेत लोकसंस्कृति की व्यापकता और उसके कालजयी होने के साथ-साथ अधोगामी एवं ऊर्ध्वगामी होने का दिया है। लोक दिशाओं से सम्बद्ध है और संस्कृति उसकी अभिव्यंजना है। महानिर्वाण तंत्र के अनुसार आठों दिशाएँ आठ रंगों से संबंधित हैं। डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने पुस्तक में अष्टकोणीय योजना का प्रारूप देकर बुंदेलखण्ड की संस्कृति को लोकसंस्कृति के परिचय, सिद्धांत, आचरण, लोकदेवत्व, लोकोत्सव, अखाड़े, लोकसाक्ष्य और लोकसंस्कृति की दिशा खण्डों में शब्दबद्ध किया है। प्रश्न यह है कि अष्टकोणीय व्यवस्था ही क्यों? प्राचीनकाल से योग में अष्टांग योग, व्याकरण में अष्टाध्यायी, धातुओं में अष्टधातु, भक्तों में अष्टछाप के कवि, जैन धर्म में अष्टकर्म, हिन्दुओं में अष्टमाता आदि का उत्स कहाँ है? बौद्ध धर्म में आठ का महत्व प्रतीत्य समुत्पाद के अंतर्गत आलय विज्ञान में अष्टम विज्ञान में मिलता है। यह लोक के अर्थ को भी स्पष्ट करने वाला है और प्रकारान्तर से लोकसंस्कृति की उपादेयता पर भी प्रकाश डालता है। अष्टम-विज्ञान में चित्, आदान,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञेयाश्रय, बीज, आलय, विपाक, विमल, विज्ञान होते हैं। इन्हीं से लोक बनता है। तभी ये अष्टांग या अष्टम विज्ञान हो जाते हैं। लोक में जिन पर विशेष दृष्टि केन्द्रित रहती है वह चित् रूप में विविध धर्मों से भक्ति, बीजों से आचित होता है। आदान में बीज और रूपीन्द्रियों का आदान करता है। उनका नाश नहीं होने देता है। बीज में लौकिक और लोकोत्तर बीजों का वहन करता है। इसे आलय इसलिए कहते हैं कि इसमें सर्व सांक्लेशिक धर्म संगृहीत हैं, यह उनको निरुद्ध होने से रोकता है, क्योंकि आत्मदृष्टि आदि आत्मवत् इसमें आलीन हैं। विपाक विज्ञान में संसार के आक्षेपक शुभ अशुभ कर्म के विपाक का यह पल है। विमल विज्ञान में अति विशुद्ध और अनास्त्रव धर्मों का आश्रय है। बौद्धधर्म पर लागू यह अष्टम विज्ञान लोकसंस्कृति का परिचय देने वाला है। अष्टम विज्ञान एक प्रकार से महानिर्वाण देने वाला है। महानिर्वाण से महासुख मिलता है। लोकसंस्कृति भी महासुख की कारक होती है, इसलिए यह कालजयी और अनवरत् होती है। संस्कृति के प्राणवान होने में लोकसंस्कृति का महायोग होता है। इस दृष्टि से भी डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त की अठकोणी व्यवस्था लोकसंस्कृति के सर्वांगों पर केन्द्रित है और बुंदेलखण्ड की संस्कृति के विकास पर यथेष्ट विचार करती है। शिष्ट साहित्य भी यथासंभव लोक साहित्य को प्रभावित करता है। और ऐसा ही विष्टजनों या सामंतों की संस्कृति के द्वारा बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति पर हुआ है, उसे लेखक ने प्रत्यक्षतः विवेचित करना उचित नहीं समझा, कारण जो भी हो, डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने वस्तुतः संस्कृति के विभिन्न आयामों को अठकोणीय विधान में लाकर एक सांस्कृतिक एवं पुण्य कार्य किया है, इस अर्थ में कि बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति विदेशी आक्रमणों का शिकार नहीं बन पाती है। मुगल हों या अंग्रेज, ये सब म्लेच्छ ही माने गए। एक समाज में रहकर, एक सा जीवन जीने के बावजूद 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना धारण करते हुए भी इस भू-भाग की लोकसंस्कृति असम्पृक्त नही है, जिसका एक दुष्प्रभाव यह हुआ है कि हम रूढ़ रूप में बुंदेलखण्डी ही बने रहे और पश्चिमी चकाचौंध से विरत रहने के कारण पिछड़े हो गए। प्रतीत्य समुत्पाद के प्रवर्तक ने भाग्य को कहीं नहीं माना है, परंतु औसत बुंदेलवासी भाग्यवादी, संतोषी और नियति के कुहासे में खो गया है। तथागत का निवृत्ति मार्ग इतने घने रूप में प्रभावित करता है कि अच्छी से अच्छी प्रतिभा जिसे मध्यकाल तक राज्याश्रय मिलते रहे, आज या तो बुंदेलखण्ड से पलायन कर गये अथवा धूल भरे हीरे बनकर रह गए। इस दुर्दशा के लिए कर्मवाद भी जिम्मेवार है।

लोकसंस्कृति में तो यह उसकी प्रकृति के कारण अनपेक्षित रूप में आ गया है। बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति का इतिहास वास्तव में इतिहासकारों को एक चेतावनी देने वाली पुस्तक हैं कि बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति का इतिहास को लिखते समय इस अठकोणीय विधान का ध्यान रखें। इतिहास ठीक रूप में अभी तक लिखा ही नहीं गया है। देशी इतिहासकारों ने आल्हा-ऊदल को स्वीकार ही नहीं किया है। इस रूप में भी संस्कृति और इतिहास के अध्येताओं को यह पुस्तक मार्गदर्शन कराने वाली है। मौखिक परंपरा जिसे वाचिक परंपरा भी कहा जाता है, बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति का विशिष्ट अंग है। यह किसी भी जाति या देश के लिए आधारभूत सामग्री का कार्य करती है। जहाँ तक बुंदेलखण्ड के भौगोलिक स्वरूप की बात है, यह मध्यदेश का ऐसा भू-भाग है जो अपने दायरे का अनेक बार अतिक्रमण करता है और उत्तर में नेपाल तक, पश्चिम में राजस्थान, गुजरात, दक्षिण में महाराष्ट्र और पूर्व में उड़ीसा तक प्रसारित होता है परंतु भाषिक दृष्टि से डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त द्वारा दर्शायी गई सीमायें समीचीन हैं और चिंतन, आचरण, लोकदेवत्व, लोकोत्सवता का सांगोपाग चित्रण डॉ. गुप्त ने किया है लोक साक्ष्य भी ठीक आये हैं, परंतु एक बात बार-बार लोकोत्सव में खटकती है कि राई, स्वाँग, बैराटी आदि डॉ. गुप्त से अपेक्षा है कि वे इस संदर्भ की सामग्री और दें, ताकि पुस्तक में आभास देने वाली कमी की पूर्ति हो। बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति का इतिहास में नाट्य रूपों की विपुल सामग्री का उपयोग उसकी विशद धरोहर को और चमक देने में समर्थ होगी। कुल मिलाकर लोकसंस्कृति पर लिखी गई पुस्तकों में यह अन्यतम है और पाठक को एक बारगी बुंदेलखण्ड की आत्मा से साक्षात् कराती है। यदि स्वाँगियों का स्वाँग नहीं आ पाया है, तो लोकसाहित्य में आने वाले हास्य की कमी ही रह जाती है। डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त साधुवाद के पात्र हैं, उनकी शोध मनीषा की बानगी प्रत्येक संस्कृति प्रेमी की अमूल्य धरोहर बनेगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फोकस : लोक समय में मृत्यु

संकलन एवं काव्यानुवाद : नर्मदा प्रसाद गुप्त

नश्वरता

बुंदेली फाग- १

प्रियतम ने दे दिया एक घर भाड़े से रहने को
मिट्टी की कच्ची दीवारों पर चारे की छत है।
दस दरवाजे हैं उस पर बिना कपाटों जैसे,
ताला कुंजी बिना सभी कुछ फैला असुरक्षित है।
चाहे जिस दिन हमें निकालो घर से कौन बचत है।।

फाग- २

नहीं भरोसा इस नर-तन का, लाज हाथ भगवान के,
पत्ता टूटे गिरे डाल से, फिर न लगे तरु-तन से।
जलकर देह मिले माटी में, राख न चुनती चिड़ियाँ,
यह नर देह काम न आती, लो पन ही पशु-धन से।।

फाग- ३

तन का नहीं भरोसा करना, आखिर इक दिन मरना।
यह संसार ओस का बूँदा, पवन छुए से ढुरना।
जबतक जिसकी जीवन-डोरी, तबतक सब दिन भरना।
'ईसुर' इस संसार में आकर, बुरे काम से डरना।।

फाग- ४

होता है एक दिन सब ही का गौना,
चाहे वह उचित लगे चाहे अनुचित।
जाना पड़ता है ससुराल सचमुच,
चाहे वह बुरा लगे चाहे वांछित।
नहीं रहा किसी का नियंत्रण काल पर,
चाहे कोई हँसे और चाहे कोई रोये।
जब तक उन्हीं की तौल का सोना-
अपनी मर्यादा खोये।

अवधी गीत- ५

चार दिन नौबत बजाकर तज दिया संसार।
संग फिर जाते नहीं सुख से जुड़े संभार।
देहरी रोयी सुपत्नी भाई बन तक साथ,
सब कुटम्बी मरघटे तक हंस नभ के पार।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मृत्युः

बुंदेली भाग- ६

मरने के दिन करीब आ गये हैं
अब ये प्राण उड़ जाना चाहते हैं।
इस देह में वह आग नहीं रही
हाथ-पैर ठण्डे पड़ चले हैं।
पीले पत्ते डालों में नहीं लगे रहते,
ईसुरी की फागें धीरे पण्डा ही गाते हैं।।

फाग- ७

मेरे प्रियतम, मुझे उठा लो अपने हाथों
और भूमि पर मुझे लिटा दो।
चार हाथ की जगह है काफी
कपिला गोबर से लिपवा दो।
उस पर कुश पवित्र बिछवाकर
चादर से तुम ढक दो।
देखो, उल्टी साँस चल रही
आँखें भर-भर आती क्षण-क्षण।

अंत्येष्टिगीत

ब्रजीगीत- ८

जौ बोने का कारण क्या है, हरे बाँस क्यों बोये?
कैसे मोक्ष मिलेगा तुमको, कैसे मोक्ष मिलेगा?
मरण के कारण बाँस हरे, धर्म-काज जौ बोये। कैसे. ।
यदि बेटी ने ब्याही मण्डप, लिया न कन्यादान, कैसे. ।
किस कारण यह गायदान दी, किस कारण गोदान, कैसे.?
पार उतरने गाय दान दी, मोक्ष-काज गोदान, कैसे. ।

हरियाणवी गीत- ९

मेरी देह ऐसे जलती है, जैसे काँच की भट्टी।
ऐसा लगता है, जैसे मुझे बिच्छु ने डंक मारा हो,
पर आश्चर्य कि लहर क्यों नही उठती।
बहू अपना मन समझाने लगी,
लेकिन उसके नैनों में पानी भर आया।
हे सास जी, जब महल में जाती हूँ,
तो पलंग का बिछौना सूनापन भर देता है।
ये थोड़े दिनों की बात नहीं है, मुझे तो जनमभर रोना है,. . .।

बुंदेली गीत- १०

अटारी फूलों से महक रही है
और शय्या पर लोंगे बिछी हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्य की अग्रणी अपने पति के साथ चल पड़ी हैं
हाथ में नारियल, मुख में पान का बीड़ा
और अग्नि की अनेक ज्वालाएँ लिये हुए।
ससुर बिनती करते हैं बहु से दोनों कुलों की लाज रखने के लिए।
बहू भाषा से अग्नि का भक्षण कर
दोनों कुलों की लाज रखने का करती है संकल्प।
फिर जेठ दोनों कुलों की लाज रखने की प्रार्थना करता है बहू सांसों से अग्नि का भक्षण कर
दोनों कुलों की लाज रखने करती है संकल्प।
देवर दोनों कुलों की लाज रखने का आग्रह करता है,
जबकि भाभी सांसों से अग्नि भक्षण कर दोनों कुलों की लाज रखने का करती है संकल्प।।

बुंदेली गीत- ११

ऐसा सोया है तू मानव, खबर नहीं अपने तन की।
यम के दूत तुम्हें लेने को खड़े द्वार पर कबसे
मार लगेगी रस्सी से बाँधे जाओगे तब से
मार लगेगी लाठी से फिर, खबर नहीं तुमकों तन की। ऐसा.।।
खड़ी सुंदरी विनती करती देखो उसकी ओर
हम देखें पर तुम न देखो प्रीतहि डारी डोर
मीत प्रीति जो बालापन की, खबर नहीं तुमकों तन की। ऐसा. ।।
छोड़ा सब ससुराल मायका, फिर अधडूबी नाव
कहे कबीर सुनों तो साधू, सुंदरि खाये घाव
साहिब सुधि लेना खेवन की, खबर नहीं तुमकों तन की। ऐसा. ।।

मृत्यु-क्षण

फाग- १२

प्रिये, अब चलने की बेला है और मैं तुमसे माँगता हूँ अंतिम विदा।
हमसे प्यार करके दूसरे को न देखना।
प्राणी मिलकर बिछुड़ते नहीं है।
इस जीव के हंस उड़ने के समय अंधेरा छाने लगा है।

फाग- १३

प्रियतम, हमें गोद में ले लो
बोलते-बोलते प्राण निकल जाते हैं
वैद्य रस लिये खड़े हैं किन्तु
होगा क्या उनकी औषधि से ?
जान लिया है कि इस देह में प्राण नहीं।
चार कहार डोली में ले गये हैं
विदा कराने के बाद।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चन्द्रशेखर दुबे

मालवा के कुछ मृत्यु गीत

दूसरे जनपदों की तरह मध्य प्रदेश के मालव भू-भाग में भी "मृत्यु-गीत" प्रचलित हैं। इन मृत्यु-गीतों को विशिष्ट प्रसंगों पर एवं विशिष्ट सन्दर्भों में गाने की परम्परा रही है।

ये विशिष्ट प्रसंग या विशिष्ट सन्दर्भ स्थूल रूप से ये हैं- पूर्वजों को स्मरण करने के रूप में, सौत को प्रसन्न करने के लिए, वीरगति पाने वालों की स्मृति में, परिपक्वावस्था में हुई मौत के अवसर पर, किसी संत-महात्मा के ब्रह्मलीन होने के अवसर पर एवं उनकी पुण्य-तिथियों पर तथा ऐसे ही अन्य अवसरों पर।

इन सभी विशिष्ट प्रसंगों एवं सन्दर्भों से जुड़े कुछ गीत बानगी स्वरूप प्रस्तुत हैं।

पूर्वजों के गीतः-

(1)

सवर्ग में उड़कर जाती सांवरी, मेरा संदेशा लेती जा।
जा कर बड़े-बूढ़ों से यों कहना, तुम्हारे घर पर विवाह है,
ताले जड़े लोहे के और जकड़े वज्र द्वार,
कच्चे सूत का पालना, बंधा है स्वर्ग के द्वार,
मंगल कार्य करो, हमारा तो आना न होय।

(2)

पितर पाताल में रम रहे, मेरी मां ने कागज भेजा,
गोद में खेलने वाले आओ, मेरी बहन ने कागज भेजा,
भाई के बंधु घर आओ, मेरी गोरी ने कागज भेजा,
चौपड़-पांसे खेलने वाले प्रीतम घर आओ।

(3)

मेरे पिछवाड़े पूर्वजों का पीपल वृक्ष, डाल-डाल पर दीपक जलें,
धूलजी सेवक तुम्हारी पूजा करे, खेलो मेरे लाड़ले पूर्वज,
रंगा हुआ यह अंगना, छोटी बहुएं पैरों पड़े,
डाली-डाली पर दीये जलें।

(4)

सरोवर की पाल पर आम की डाली, पूर्वजों के लश्कर आए हो राज,
कल-कल कर नदियां बहेंजी, पितरों की धोती धोवें हो राज।
आप ही पाट पर पधारो हो राजा, पाट पर पधारो और नारियल बड़ा करो।
खोपरे का होम पादुका चढ़ाएं राव, चांदी की जूती हो राज,
रमते-खेलते आओ मेरे पूर्वज,
यह खेलने की बेला हो राज।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सौत की प्रशस्ति के गीत

-1-

दीदी भम्मर गढ़ाएं तुम्हें जी, क्या टीका गढ़ाएं जीजी बाई,
मेरे यहां मेरी बहना-बाई, गहरी-गहरी झबियां बज रही है।
बैठूं तो झबिया बजे, उठूं तो झबियां बजें,
साहब का बंगला गाजे, मेरी जीजी बाई,
मेरे यहां मेरी बहन-बाई, गहरी-गहरी झबियां बजें।

-2-

शीश का भम्मर जीजी बाई, शीश का टीका बहना बाई,
उनका बंटवारा हो,
तुम बड़ी हम छोटी, तुम से होड़ न होय,

जुझार का गीत

जुझारजी, धड़ तो धरती पर, पैर रकाब में हो,
मेरे सच्चे जुझार, गहरे रण में जूझेजी,
जुझारजी शीश की पाग, जुझारजी कानों के मोती,
अजी पाग के पेंच प्यारे लगें हो, मेरे सच्चे जुझार,
गहरे रण में जुझेजी, जुझारजी अंग का वागा (वस्त्र),
केसर प्यारी लगे हो, मेरे सच्चे जुझार,
गहरे रण में जुझेजी, जुझारजी पैरों में का तोड़ा,
चटिया प्यारा लगे हो, मेरे सच्चे जुझार,
गहरे रण में जुझेजी

सती के गीत

-1-

शीश के लिए भम्मर गढ़ाओ रे परिजन मेरे,
साहब का डोला चन्दन वृक्ष के नीचे खड़ा,
चन्दन नीचे खड़ा, चमेली नीचे खड़ा,
साहब से दूसरी मत रसोरे परिजन मेरे,
साहब का डोला चन्दन वृक्ष के नीचे खडा,
बाहों के लिए चूड़ा चिराओ रे परिजन मेरे,
पैरों के लिए नेवर गढ़ाओरे परिजन मेरे,
अंग के लिए सालू रंगवाया रे परिजन मेरे,
साहब का डोला चंदन के नीचे खड़ा।

-2-

सती के डेरे हवा बाग में,
किस तरह सेवा करें हिंगलाज की,
बाबड़ ने लिए बीड़े पान के,
किस तरह छोड़े सास-ससुर, हे मेरी सती श्रेष्ठ,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किस तरह छोड़े मां-बाप, हे बड़े के बेटे।
बावड़ ने लिए बीड़े पान के,
हंसते हुए छोड़े सास-ससुर, रोते छोड़े मां-बाप,
बड़े के बेटे, बावड़ ने लिए बीड़े पान के,
किसकी धंसी अमरपाल हे मेरी सती श्रेष्ठ
बावड़ ने लिये बीड़े पान के
प्रियतम की धंसी अमरपाल, बड़े के जाये,
बावड़ ने लिये बीड़े पान के
किस तरह छोड़े भीतरी कमरे, किस तरह छोड़ी सूरज पोल। (पूर्वी द्वार)
बड़े के जाये, बावड़ ने लिये बीड़े पान के
किस तरह छोड़े, देवर जेठ, किस तरफ त्यागे छोटे बालक
बड़े के जाये, बावड़ ने लिए बीड़े पान के
हंसते छोड़े देवर-जेठ, रोते छोड़े छोटे बालक
बड़े के जाये बावड़ ने लिए बीड़े पान के
अरे घोड़े पर चढ़ कर लगाम मरोड़ो मेरी सती श्रेष्ठ
किस तरह सेवा की हिंगलाजकी, बड़े के जाये
बावड़ ने लिया बीडा पान का।

-3-

ओ मेरी सती माता भरी जवानी में सत लिया,
माता इसी ऊँचाई पर हेमा सती को देख रहे
माता इसी बुलंदी पर चोखा सती को देख रहे
परिजन स्वर्ग से निमंत्रण और घर-दूर
ओ मेरी सती माता
माता किस ओर छोड़े घर-बार
माता किस ओर छोड़ा पूर्वी द्वार
ओ मेरी सती माता
माता किस ओर छोड़े सास-ससुर
परिजन पुलकित छोड़े मां-बाप
ओ मेरी सती माता
माता को रोटी बेलते, पिता को आंगन में
माता किस तरह काटी झीनी आग
परिजन ज्यों जल काटती है मछली
परिजन हेमा सती ने काटी झीनी आग
ओ मेरी सती माता।
ओ माता तारे पीहर-ससुराल
मात तारे आप के वही परिवार
माता तारे अपने पति
ओ मेरी सती माता।

परी मां का गीत

धन्य-धन्य मेरे परिजन
तुम्हारे घर परीबाई आईजी
परीबाई आई, मेरे मन भाई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूध-परेवा लाईजी
शीप्रा स्नान किए
केसर का तिलक लगायाजी
टांटी तोड़ कर पवन रूप में आईजी
गले में फूलों की माला जी

मस्साण्या (श्मशान के) गीत

-1-

अरे मेरे हंसा रे, लोभी जीव रे
काया की बाड़ी रख मत जाओ
हंसा तू और मैं आए दोनों जने
अब अंत में अकेला जाए रे मेरे हंसा
तू ने और मैंने पिया दूध रे
अब जाते समय पियो नीर रे मेरे हंसा
ओ हंसा, मां-बाप दोनों की सेवा हमने की
अब मां-बाप छोड़े, छोड़े मकान।

-2-

पिंजरे पोपट (पंछी) उड़ गया
अरे जा बैठा यमुना किनारे
यमुना में पोपट स्नान कर रहा
भाई पोपट तेरे कारण
अरे खासा बाग लगाया रे
चम्पा-चमेली और दोनों मोगरा
पढ़ो रे पोपट श्री राम को

-3-

अरे शोभा वाला हालरा रे, उसकी निर्मल ज्योति
अरे शब्द धातु का पलना, अरे पटिये तीन सौ साठ
सोहने वाला हालरा
एक कील का जुड़ाव, अरे जाए ठठरी ठाठ से
आकाश में फुलवारी बांधी, लगी त्रिगुण डोर
युक्ति से झूला चला दिया, अरे झूला मनरंग मोल
अनहद घुंघरू बांधे, अरे सुरता करो विचार
अष्ट कमल दीपक जल में चढ़ा, अरे लगी अर्गला डोर
नदी शिप्रा के घाट पर, अरे बैठा ध्यान लगा
आता देखा पिंजरा, अरे गोदी में लिया उठाय
सोहन वाला हालरा

-4-

"आणो" (प्रियतम के घर आने का अवसर) आयो रे परिब्रह्म को
ससुराल जाना हे रे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चलो मेरी सखी, सहेली, अरे अपन स्नान को जाएं
अरे क्या देव-मन्दिर को सिधारे
चलो मेरी सखी-सहेली, अरे अपन चोटी-चोटी (केश श्रृंगार) गुथाएं
क्या गूथें, क्या गूथना, मोतियों से मांग सजाएं
आणो आयो रे परिब्रह्म को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ. चन्द्रेश्वर कर्ण

उराँव जनजाति के मृत्यु-संस्कार

आदिम जनजातियों के धार्मिक विश्वास में पूर्वजों की पूजा का विशेष महत्व है। जनजातियों का विश्वास है कि मृत पूर्वजों को उनकी नियति के बारे में निर्णय करने की शक्ति है। पूर्वजों की पूजा का समस्त कार्यक्रम सावधानीपूर्वक किया जाता है। इनकी धारणा है कि नया मृतक अपने पूर्वज मृतकों से मिल जाता है। पूर्वजों की जीवात्माओं को पुकारा जाता है और वर्ष में एक बार, किसी अवसर आने पर या कोई अपने सामर्थ्य के अनुसार पितृपूजन करता है। जबतक मृत पूर्वज की पूजा नहीं की जाती, तब तक उसकी आत्मा को शांति नहीं मिलती।

जन-जातियों में मृत्यु-संस्कार की अपनी-अपनी विधियाँ हैं। उराँव जनजाति के मृत्यु-संस्कार की अपनी विशिष्ट पद्धति है। उराँव मानते है कि शरीर में जीव एवं आत्मा (एख) दो शक्तियाँ निहित होती है जीव का सम्बन्ध उसके भौतिक शरीर से है तथा "एख" मनुष्य का मूल एवं स्वतंत्र तत्व है। एख शरीर को छोड़कर जहाँ चाहता है विचरण करने के निमित्त चला जाता है तथा पुनः लौटकर शरीर में प्रविष्ट कर जाता है। ऐसा अवसर मनुष्य के सुप्तावस्था अथवा गहन रोग से ग्रस्त होने पर संज्ञाहीनता की अवस्था में होता है। सोये हुए मनुष्य के शरीर में जीव रहता है, एख नहीं भी रह सकता है। उराँवों का मानना है कि व्यक्ति स्वप्नावस्था में जो कुछ भी देखता है, वह विचरण करते हुए एख के माध्यम से देखता और अनुभव करता है। व्यक्ति के जागने पर एख तत्क्षण लौटकर शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। वे मानते हैं एख विहीन शरीर जीवित रह सकता है, किन्तु संज्ञाहीन एवं रोगग्रस्त होकर कुछ ही दिनों तक। जैसे, यदि किसी सोये व्यक्ति को हड़बड़ाकर जगा दिया जाए और विचरण करता एख उसके शरीर में प्रवेश नहीं कर पाए, तो इसका परिणाम यह होगा कि जागने के उपरान्त वह व्यक्ति या तो पागल हो जाएगा अथवा रोगग्रस्त तथा कुछ काल के बाद उसकी मृत्यु हो जाती है।

उराँव भी आत्मा को अजर-अमर मानते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्य का भौतिक शरीर और उसका जीव जो भौतिक शरीर की ऊर्जा होता है, नष्ट हो जाता है, लेकिन उसका एख अजर-अमर है। उराँवों की मान्यता के अनुसार एख शरीर विहीन व्यक्ति है। एख उसी प्रकार भूख, प्यास, आनन्द, क्रोध, राग-द्वेष, अनुभव करता है जैसा वह एक शरीर धारण करने के समय करता था। एख को अपने पराये की पहचान होती है। वह उस अदृश्य लोक में विचरण करता है जिस लोक में देवी-देवता, क्षेत्रीय नाद, भूत-प्रेत विचरण करते रहते हैं। ऐसे में वह अपने परिवार के लोगों पर आने वाली विपत्तियों को देख लेता है और उनकी रक्षा करने का हर संभव प्रयास करता है।

उराँव जाति के लोगों की यह मान्यता है कि मृत्यु के उपरांत उसका एख पाताल लोक में रहनेवाले पूर्वजों से जा मिलता है। उसी प्रकार जैसे जीवित उराँवों की वंश-परंपरा या खूँट या गोत्र चलता है उसी प्रकार पाताल लोक में मृत्यु के पश्चात् एख अपने खूँट के एखों के बीच में व्यवस्थित होता है। एखों में भी वंश और परिवार का विचार चलता है। मृत्यु-संस्कार की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है पद्म-बालर स्थित पारिवारिक एखों के बीच मृतक के एख को सुव्यवस्थित करना तथा उनसे प्रार्थना करना कि आपके वंश के अमुक-अमुक के ये पुत्र या पौत्र हैं, आपके पास जा रहे हैं, इन्हें स्वीकार करें।

उराँव जाति के मृत्यु-संस्कारों में अरबा चावल वर्जित है। उसमें उसना चावल ही प्रयोग में आता है। मृत्यु के पश्चात् श्मशान घाट ले जाने के पूर्व शव को स्नान कराकर उसके मुँह में उसना चावल तथा पैसा रख दिया जाता है। यह कार्य प्रायः घर-परिवार की स्त्रियाँ करती हैं। वे कहती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं: "ओन्दा, ओन्ना, अक्कु एमान अम्बकाए। आक्कु निभाए इहो। इरकाए। हरमी रोग-पाप हो आरकी काला। अर्थात् "इसे खाओ। अब तुमने हमें छोड़ दिया है। अब तुमने अपना मार्ग देख लिया है। जाओ और हमारे सभी रोग-पाप अपने साथ लेते जाओ।"

उराँव लोकाचार में मृत्यु-संस्कार को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। इस संस्कार के माध्यम से मृतक की एख को पाताल-लोक में निवास कर रहे अपने पितरों के एख-समूह या पच-बालर में सम्मिलित कराया जाता है। पाताल-लोक के पितरों का समूह या पचबालर ऐसा परिवार है जिसमें पृथ्वी लोक से विदा होकर एख का एक सदस्य के रूप में सम्मिलन हो जाता है। सम्मिलन की धार्मिक क्रियाएँ किसी नदी या जल-कुण्डम में, जहाँ पारिवारिक गोत्र का पुल्खी-पाषाण गड़ा रहता है, मृतक की अस्थि को विसर्जित करने से पूरी होती है। उराँव विश्वास के अनुसार पाताल-लोक में अपने पितरों के बीच पहुँचने का यही प्रवेश-मार्ग है। अस्थि-विसर्जन या हड़बोड़ी की धार्मिक क्रिया को उराँव लोकाचार के अतंर्गत "कोहा-बेंजा" नाम दिया गया है। कोहा-बेंजा का अर्थ महान् विवाह होता है, जिसमें हड़बोड़ी प्रमुख क्रिया है।

मृत्यु-संस्कार के अनेक चरण है। कोहा-बेंजा के पूर्व, इस क्रिया की तैयारी के निमित्त, मृत्यु-संस्कार को अनेक चरणों तथा प्रक्रियाओं से गुजरना होता है, जो मृत्यु से कोहा-बेंजा की एख यात्रा के मध्य पड़ता है। इस क्रम में उराँव लोकाचार के अतंर्गत मृत्यु-संस्कार का एक ऐसा असामान्य, किन्तु विशिष्ट चरण आता है, जो संभवतः विश्व की किसी अन्य जन-जाति में प्रचलित हो। इस चरण में शव को कुछ समय के लिए दफन किया जाता है और समय पूरा हो जाने पर शव को कब्र से निकालकर जलाया जाता है। दफनाने और जलाने की दोनों रीतियां एक ही शव के साथ निभायी जाती है, जो उराँव धर्म के अनुसार उचित है। यह पद्धति उस मृतक के साथ अपनायी जाती है जिसकी मृत्यु "खद्दी" एवं "कोहा-बेंजा" की बीच की अवधि में हुई हो। वे इस संस्कार को असहज होने पर भी तर्क-संगत मानते हैं। धर्म एवं रीति-रिवाजों पर प्राकृतिक परिवेश का प्रभाव पड़ता है। छोटानागपुर के जंगली एवं पठारी भू-भाग में बसने वाली उराँव जनजाति को अप्रेल माह से अक्तूबर-नवम्बर तक घनघोर बारिश का सामना करना होता है। अक्सर सप्ताह भर तक मूसलाधार बारिश होती रहती है। ऐसी स्थिति में शव को श्मशान तक ले जाना तथा दाह-संस्कार करना कठिन हो जाता था। एतदर्थ यह प्रचलित हुई। जब तक घनघोर बारिश हो तब तक के लिए शव को भूमि में दफना दिया जाए और खर्रा-पूजा के कुछ दिन पूर्व उसे निकालकर जलाया जाए। जिसकी मृत्यु वर्षा ऋतु में नहीं होती उसके शव को सीधे श्मशान ले जाया जाता है जहां उसका दाह-संस्कार होता है।

कोहा-बेंजा की क्रिया पूरे गाँव एवं गोत्र की सामूहिक रूप में सम्पन्न की जाती है। इसके लिए पाहन एवं महतो कोई उपयुक्त दिन निर्धारित करते हैं। यह दिन प्रायः कार्तिक शुक्ल पक्ष की षष्ठी होती है। कुछ गाँवों में कोहा-बेंजो अगहन शुक्ल पक्ष की षष्ठी को आयोजित होता है। कोहा-बेंजा को हड़बोड़ी क्रिया के अनुसार मृतक की अस्थि कुंडी में जल-समर्पित की जाती है। उन सभी परिवारों के लोग कोहा-बेंजा के इस वार्षिक समारोह के लिए, परिवार के, उस वर्ष के मृतक या मृतकों की अस्थि को कलश में विधिवत् सुरक्षित रखते हैं जिन्हें कब्र में न रखकर सीधे श्मशान में जला दिया गया होता है। जिन शवों को सीधे नहीं जलाया गया होता है, उन्हें औपचारिक दफन के उपरान्त भूमि से निकालकर, श्मशान में चिता पर जलाते एवं उनकी अस्थि एकत्रित कर कलश में रखते हैं एवं कोहा-बेंजा के दिन अस्थि को जल-समर्पित कर देते हैं। इस प्रकार कोहाबेंजा के दिन विगत एक साल में देश-विदेश में गाँव के जितने लोगों की मृत्यु हुई है, सभी के अस्थि-कलश एकत्र कर समारोह पूर्वक सामूहिक रूप से गौत्र की कुण्डी में जल समर्पित किया जाता है।

एख मांखा

उराँव जाति में यह विश्वास है कि मरने के बाद भी व्यक्ति अपने संबंध में जीवित होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका बोध "एख मांखा" या "छाई भितरना" की प्रक्रिया से होता है। मृत्यु-संस्कारों में यह महत्वपूर्ण है। उराँव विश्वास में "एख" को शरीर-विहीन व्यक्ति की संज्ञा दी गयी है। तात्पर्य यह है कि शरीर नष्ट हो जाने के बाद भी व्यक्ति मरता नहीं, बल्कि अपने संबंधों में बना रहता है। यह संबंध पृथ्वी के ऊपर तथा पृथ्वी के नीचे पाताल लोक में स्थापित पितरों से जुड़ा होता है। वर्ष में एक दिन जो प्रायः कार्तिक शुक्ल पक्ष की षष्ठी या अगहन के शुक्ल पक्ष की षष्ठी को होता है। इन अवसरों पर वर्ष भर में मृत सभी व्यक्तियों के एख को, कोहा-बेंजा क्रिया द्वारा पाताल लोक स्थित पितरों से संयुक्त करा दिया जाता है। इस संदर्भ में एक प्रश्न यह उठता है कि मृत्यु के पश्चात् कोहा-बेंजा के अस्थि-जल-समाधि तक के अतंराल में एख की क्या स्थिति रहती है। क्या वह स्वंतत्र विचरण करता रहता है अथवा घर के सदस्य कोहा-बेंजा तक के लिए एख को कहीं स्थापित करते हैं? एख को स्वतंत्र छोड़ दिए जाने पर तो मर्त्यलोक में अराजक स्थिति की संभावना हो सकती है। फिर तो एख को कोहा-बेंजा के लिए "उस दिन" उपलब्ध कर पाना सहज संभव नहीं होगा। ऐसे में मृत्यु के बाद की पहली क्रिया एख को निश्चित स्थान पर स्थापित करना होता है जिससे उसे भटकना न पड़े और कोहा-बेंजा के लिए एख सुलभ रहे।

एख मांखा की क्रिया

इसकी एक मनसा है। इस क्रिया के माध्यम से मृतक की छाया के घर वापस लौटने की जाँच की जाती है। जिस कमरे में मृतक ने अंतिम साँस ली थी उस कमरे में एक लाल रंग का छोटा मुर्गा लाया जाता है तथा चुगने के लिए उसे सूप से उसना चावल दिया जाता है। उस कमरे में एक व्यक्ति होता है जो कमरे को भीतर से बंद रखता है। कमरे के भीतर जल से भरा पीतल का एक लोटा होता है जो पत्ते से भरा होता है और उस पर दीपक रहता है जिसे प्रज्ज्वलित कर दिया जाता है।

इसी अवधि में घर की औरतें श्मशान घाट की ओर जाती हैं। उनके हाथों में दातुन के समान तीन डंठल, कुछ पुआल, कोयले का जलता टुकड़ा, हल की फाल तथा हँसिया होता है। श्मशान घाट का आधा रास्ता पार करने के पश्चात् वे रूक जाती हैं। वहाँ वे डंठल गाड़कर, उस पर पुआल फैलाकर प्रतीक स्वरूप छोटी-सी कुटिया बना लेती हैं। इसके बाद कुटिया में आग लगा दी जाती है। कुटिया के जलाने के क्रम में मृतक का नाम लेकर पुकारा जाता है इसका उद्देश्य होता है मृतक की एख को कुटिया के निकट बुलाना। एख के कुटिया के निकट आ जाने के भाव के साथ औरतें फाल को हँसिया से बजाती हुई वापस लौटती हैं। घर के भीतर के आदमी से वे कुछ सवाल पुछती हैं। यह जानकर कि औरतें दुःख भगाकर सुख लाई हैं, वह घर का द्वार खोल देता है। सब की दृष्टि सर्वप्रथम दीपक की लौ पर जाती है। लौ के स्थिर रहने पर मान लिया जाता है कि मृतक की एख घर में प्रविष्ट नहीं हुई है। लौ के कंपित होने पर एख के घर में प्रवेश कर जाने की आशंका होती है। इससे बचाव के लिए सारे घर में राख बिखेर दी जाती है। इससे यह पता चल सके कि मृतक की छाया किस जीव के रूप में प्रविष्ट हुई है।

मृत्यु-संस्कार का विधान

सरहल और खर्रा पूजा के बीच मृत्यु की स्थिति में शव को भूमि में दफनाया जाता है। इस विशेष संस्कार के बाद शवदाह एवं मृत्यु-संस्कार की सम्पूर्ण क्रियाएं पाँच दिनों में सम्पन्न की जाती हैं। पहले दिन की क्रिया में दफन किए गये शव को निकालना और उसका दाह-संस्कार करना है।

पहला-दिन

मृत्यु-संस्कार के क्रम में सबसे पहले भूमि में दफन किए गये शव को उखाड़कर ऊपर लाया जाता है तथा उसे चिता पर रखा जाता है। इसकी प्रक्रिया है कि चिता तैयार करने के बाद कब्र खोदने का काम शुरू होता है। जब शव दिखलाई पड़ने लगता है तो रूक जाते हैं तथा मृतक के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घर खबर भिजवाते हैं। खबर पाते ही परिवार के सदस्य तथा मेहमान समूह में रोते श्मशान घाट पहुँचते हैं। इसके बाद शव को उठाकर गढ़े के पास रख देते हैं संतप्त परिवार रोते हुए शव को दतवन देते हैं। स्नान कराते हैं। उसके बाद शव को हल्दी तथा सिंदूर का तीन टीका लगाया जाता है। फिर शव के मुँह में कुछ चावल, सिक्के एवं कौड़ी रखी जाती है। इसके बाद शव को चिता पर रखा जाता है। चिता पर शव को रखने के बाद पुनः जल अर्पित किया जाता है तथा हल्दी एवं तीन बार हल्दी का टीका लगाकर उसे कफन से ढक दिया जाता है। इसी दौरान औरतें उसना चावल के दाने श्मशान में छीटती हैं। मृतक का पुत्र या कोई निकट संबंधी मुखाग्नि देता है।

उस शव को दफनाने का विधान नहीं है। जिसकी मृत्यु खर्रा और सरहल के बीच हुई है। उन्हें जलाने का विधान है। मृतक के परिवार के लोगों का रोना सुनकर पास-पड़ोस की औरतें मृतक के घर सूप या नाचुआ (छोटी टोकरी) में धान लेकर पहुँचती हैं। तब तक शव को घर से निकालकर आँगन में रखा जा चुका होता है। शव के पास एक खाली टोकरी रहती है। औरतें अपने साथ लाये धान को उसमें रख देती हैं।

शव के घर से निकलने के बाद कमरे में राख छिड़क दी जाती है और दरवाजा बंद कर दिया जाता है जबतक लोग श्मशान से लौटते नहीं है। सधवा स्त्री का शव होने की स्थिति में सिंदूर को तेल में मिलाकर उसके माथे को टीका जाता है और उसकी मांग में सिंदूर भरा जाता है। शव को कफन से ढक दिया जाता है पहले औरतें ही अपने कंधों पर शव को श्मशान घाट तक ले जाती थीं, भले वह स्त्री का शव हो अथवा पुरुष का। यह प्रथा अब पूर्णतः समाप्त हो चुकी है। मुखाग्नि देने के पूर्व सभी महिला सम्बन्धियों द्वारा सिर पर तेल गिराना, उसना चावल एवं सिक्का मुँह में डाला जाता है।

जब चिता पूरी तरह प्रज्वलित हो जाती है तब औरतें स्नान करने के निमित्त घाट पर जाती हैं। रास्ते में "फूट-चिरी" घास चुनती हुई घाट पर पहुँचती हैं। अस्वस्थ औरतें हाथ-मुँह धोकर "फूट-चिरी" घास से अपने ऊपर जल छिड़क कर अपने को शुद्ध करती हैं। सभी औरतें अपने ऊपर हल्दी का छिड़काव भी करती हैं। इसके बाद औरतें घर लौट जाती हैं। फिर पुरुष स्नान करते हैं।

रात में सभी सरना-स्थल पर जमा होते हैं। इसके पहले पाहन नेग करते हुए श्मशान में हल्दी तथा जल छिड़कर श्मशान को शुद्ध कर चुका होता है। सरना स्थल पर-बालर को हड़िया अर्पित किया जाता है। वहाँ उपस्थित सभी लोग भी हड़िया ग्रहण करते हैं। यह कार्यक्रम देर रात चलता है। इस दिन से सारा गाँव छुतका लग जाने से अपवित्र माना जाता है। किसी मेहमान को घर का भोजन नहीं दिया जाता है।

दूसरा दिन

"नाल ओड़ा तिरिखना" (दोन चिड़ि खूँदना) की क्रिया चिता जलने के दूसरे दिन संपन्न की जाती है प्रातःकाल गाँव के पुरुष नग्नावस्था में निकट के किसी जलाशय के पास जाते हैं जहाँ जल की मात्रा तो कम मगर झाड़ियाँ घनी हों। इन झाड़ियों में आमतौर पर चिड़ियाँ घोसला बनाती हैं। पाहन उनके साथ होता है। नवयुवक एक विशेष प्रकार की चिड़िया पकड़कर पाहन को देते हैं। वह इसे बांस के छाते के ऊपर बांधकर नचाता है। पुरुष अपना-अपना वस्त्र पहन लेते हैं। वे हाथ से धान की बाली को नोचते एवं गमछे में रखते सरना-स्थल तक आते हैं। वहाँ गोत्र (पत्थर) देवता को पूजा और कलश-स्थापना होती है। एक विशेष कार्यक्रम भी इसी दिन सम्पन्न होता है। गोड़इत रात में नगाड़ा बजाता हुआ पूरे गाँव की परिक्रमा करता है। वह गाँव के मृतकों के एखों को, जो यदि अपने स्थान से विचलित होकर बाहर आ गये होते हैं, उन्हें नगाड़े की आवाज से पुनर्व्यवस्थित करता है। यह क्रिया रात्रि के ६ बजे, अर्द्धरात्रि १२ बजे आर प्रातः होने के पूर्व २ बजे तीन बार की जाती है। अंतिम बार के नगाड़े की ध्वनि सुनकर वे एख, जो दो बार की ध्वनि से व्यवस्थित न हुए हों वे व्यवस्थित हो जाएं। गोड़इत अनवरत नगाड़ा बजाता हुआ अंत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में अपने घर में प्रविष्ट हो जाता है।

तीसरा दिन

प्रातः गाँव के प्रतिष्ठित लोगों के साथ पाहन खलिहान के निकट, जहाँ खर्रा पूजा मनाया जाता है, जमा होते हैं। वह स्थान गोबर से लीप कर साफ किया रहता है। वहाँ कुछ चावल बिखेर कर मुर्गा बाँध दिया जाता है। सभी स्नान कर खर्रा-स्थल पर पहुँच कर पत्थर का चूल्हा बनाकर उसे जल से अभिसिक्त करते हैं। मुर्गे की बलि दी जाती है और उसका रक्त चूल्हे को समर्पित किया जाता है। चूल्हे पर ढेकी से सघः कूटा हुआ उसका चावल तथा बलि के मुर्गे के मांस से तहरी बनायी जाती है। तहरी तथा हंड़िया भूमि पर अर्पित कर पच-बाहर पर चढ़ाया जाता है। सभी उपस्थित लोग तहरी और हड़िया का सेवन करते हैं। इसके पश्चात् मृतक के घर में उत्तर-खिलाकी क्रिया शुरू होती है।

मृतक के आंगन अथवा बरामदे में एक फीट की गोलाई में छहः सात इंच गहरा गड्ढा खोदा जाता है। उस गड्ढे के किनारे तला हुआ बिनौला, उर्द, टोरनी, लोहसिंगा (लौहचूर्ण) और धान का लावा जितिया पीपल पत्ते के दोने में भर कर रख दिया जाता है। हल्दी का घोल भी एक दोने में रखा जाता है। गाँव का एक वृद्ध व्यक्ति गड्ढे के पश्चिमी किनारे पर पूरब करके बैठता है। वह एक लाल मुर्गे का सिर अपने हाथ में तोड़कर उसका चोंच निकालता है। रक्त तथा चोंच को गड्ढे में डाल दिया जाता है। इसके बाद वहाँ उपस्थित लोद दानों में रखी चीजें निकालकर गडढे में डालते जाते हैं। अंत में हल्दी के घोल के छिड़काव से अपने को शुद्ध करते हैं। गड्ढे में अन्न डालते समय वे पाताल-लोकवासी पितरों से प्रार्थना करते हैं कि वे अपने खूँट के व्यक्ति के एख को अपने बीच स्थान दें। इसी क्रम में दण्डा-कट्टा या वेलवाफारी धार्मिक क्रिया भी सम्पन्न की जाती है जो विभिन्न प्रकार की आपदाओं से बचने के लिए की जाती है।

घर की औरतें श्मशान घाट जाकर मृतक की अस्थियाँ बाएं हाथ से इकट्ठा करती हैं। उन्हें धोकर उन पर हल्दी का प्रलेप करती हैं। फिर नयी मिट्टी के घड़िया (छोटा घड़ा) को पुआल की बड़ेरी पर रखा जाता है। कुश घास की एक पिण्डी या लिंग जो मृतक के प्रतीक के रूप में होता है, बनाकर घड़े में अस्थियों के साथ रख दिया जाता है। कोई महिला चिता-स्थल को गोबर से लीपकर साफ-सुथरा कर देती है। कोई अन्य महिला सिन्दुआर की टहनी से गोबर से लीपे स्थान को झाडू से बुहार देती है। अस्थियों के साथ घड़े में आधा उबाला हुआ चावल रख दिया जाता है।

हड़बोड़ी या अस्थि-जलार्पण कोहाबेंजा की मुख्य क्रिया है। इसमें मृतकों के एख को पितरों के एख के बीच स्थापित किया जाता है। उराँव जाति अपने घर, गाँव, पहाड़, पृथ्वी और समस्त दिशाओं की शांति के लिए पाताल-लोक में रहने वाले पितरों के बीच मृतक की एख को स्थापित करने के लिए विभिन्न धार्मिक क्रियाएँ करते हैं। पूर्वज एखों से प्रार्थना की जाती है कि वे मृतक एख को अपना लें। प्रार्थना का यह क्रम हर मृत्यु-संस्कार में देखा जा सकता है किन्तु हड़बोड़ी ऐसी विधि है जिसमें भू-लोक से एख को विदाकर पाताल-लोकवासी गोत्र सामूहिक रूप में गाजे-बाजे के साथ "कुण्डी" की ओर जाती है।। "कुण्डी" किसी नदी, तालाब या बहते जलस्रोत में पत्थर की गड़ी शिलाओं का वह स्थान है जहाँ गाँव के भुइहरों एवं जेठरइयतों की अस्थियाँ जलार्पित की जाती हैं।

ऐसा भी होता है कि उराँव अपना गाँव छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में हड़बोड़ी के दिन उन्हें मृतक की अस्थि लेकर पहले वाले गाँव में जाना पड़ता है तथा गोत्र की परम्परागत पुल्खी-पत्थर के नीचे मृतक की अस्थि समाधिस्थ करनी पड़ती है। अपने गोत्र के लोगों की जनसंख्या अधिक होने अथवा भुइहरों यानी मूल निवासियों की एक कुण्डी होती है तथा उसके किनारे पत्थर की शिलाएँ "पुल्खी" होती हैं जो गाँव के हर गोत्र के लिए निश्चित होती है।

गाँव की औरतें बायीं हथेली पर अस्थिकलश लेकर समूह में कुण्डी की तरफ जाती हैं। गोड़इत आगे-आगे बाजा बजाता चलता है। पुरुष पीछे-पीछे चलते हैं कुण्डी में पहुँचकर औरतें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने गोत्र के अनुसार पुल्खी के निकट खड़ी हो जाती हैं। परिवार के पुरुष उनके हाथों से कलश कलश छिनकर शीघ्रता से अस्थियाँ नीचे उलटकर कलश को पुल्खी पत्थर पर तोड़ देते हैं औरतें अपने-अपने गोत्रों के पुल्खी पत्थर को धोकर उस पर खिचड़ी रखकर पुल्खी को समर्पित करती हैं। पाहन उस पर हल्दी सुक्त जल छिड़क कर स्थान को पवित्र करता है। अब पुरुष कुण्डों से ऊपर जाकर पुरुष घाट में और औरतें उनके लिए बनी घाट में स्नान करती हैं। कुण्डी से सभी के चले जाने के बाद गाँव का भण्डारी खेनी-चूना मलकर धरती पर रखकर कहता है: "पच्च-बालर, निभागे चूना-तामकू चियाअः लाँगद्म आक्कूएम काला लागद्म। कुरमी मांग पूरा काला लागद्म।" (अर्थात् ओ पितर, हम तुम्हें चूना और तम्बाकू समर्पित कर रहे हैं, इसे स्वीकार करो; अब हम जा रहे हैं। सारे क्रिया-कर्म अब पूरे हो चुके हैं।)

घाट पर स्नान करने के पश्चात् स्त्री-पुरुष फूला-चिड़ी घास चुनकर घर की ओर प्रस्थान करते हैं। घर पहँचने पर फूला-चिड़ी घास से उनपर हल्दी पानी छिड़का जाता है फिर हाथ में हल्दी पानी दिया जाता है। उसके बाद तेल दिया जाता है जिसे शरीर में मलकर शुद्ध हुआ जाता है। फिर सभी घुमकुड़िया के निकट के अखड़ा में जमा होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष लकड़ी का जलता हुआ टुकड़ा रख दिया जाता है। सब पर भूसी डाली जाती है तथा तेल अर्पित किया जाता है। भूसी और तेल के कारण धुँआ उठता है जो शरीर का स्पर्श कर उसे शुद्ध कर देता है। बाद में लकड़ियाँ पैरों से बिखेर दी जाती हैं।

उसके बाद एक दिन पूर्व तैयार किया हुआ कलसा अखड़ा में लाया जाता है। कलश के दीप को प्रज्वलित कर दिया जाता है। घुमकुड़िया में रखे लकड़ी के हाथी-घोड़े की मालिश की जाती है। सिन्दूर का टीका लगाया जाता है। सारे नेग-नियमों का निर्वाह करते हुए रंगवा मुर्गे की बलि दी जाती है। उसे उठाकर अखड़ा में रखा जाता है गाँव के पाहन, पुजार महतो या प्रतिष्ठित व्यक्ति हाथी-घोड़े पर सवार होते हैं। गाजे-बाजे तथा गीत के साथ पूरा गाँव जतरा टाड़े की ओर प्रस्थान करता है। वहाँ पहुँचकर यात्रा उत्सव और समारोह में परिवर्तित हो जाती है। हाथी-घोड़े तथा कलसा के साथ पूरे वेग के साथ जतरा टाड़ की तीन बार परिक्रमा की जाती है। कुछ लोग इसकी रखवाली करते हैं तथा शेष लोग नाच-गान में तन्मय हो जाते हैं। देर रात तक यह चलता रहता है।

चौथा दिन

उराँवों में मृत्यु-संस्कार से संबंधित विधानों में "नैग बेंजा" का विशेष महत्व है। यह चौथे दिन का कार्यक्रम है। "नैग" का अर्थ पाहन या पुजार से है और "बेंजा" का तात्पर्य पाहन-पहनाइन या पुजार-पुजारिन का वैवाहिक आयोजन है। यह आयोजन पाहन के घर में होता है। यहाँ गाँव के लोग एकत्रित होते हैं। यहाँ विवाह संबंधी सारे नैग सम्पन्न किए जाते हैं तथा पाहन-पहनाइन, पुजारी-पुजारिन का विधिवत विवाह होता है। फिर सारे लोग अखड़ा में आ जाते हैं त्रिवर्षीय प्रशिक्षण प्राप्त वागदत्त युवक-युवतियाँ अखड़ा में आते हैं। युवक कोहड़ा लाते हैं और युवतियाँ नौ पैला भूना चावल या मूढ़ी लाती हैं। कोहड़ा विशेष स्थान पर रख दिया जाता है। युवक को अपनी मुष्टिका के प्रहार से कोहड़े को तोड़ना होता है। इसमें असफल होने पर उसे आर्थिक दंड देना पड़ता है जिसका उपयोग खान-पान में किया जाता है।

कोहड़ा पाहन अथवा पुजार पकाते हैं। इस भोज में युवक-युवती तथा उनके परिवार के सदस्य भाग लेते हैं। पाहन एवं महतो के घर एक दिन पूर्व स्थापित तीनों कलशे अखड़ा में लाए जाते हैं। रात गहराने तक नृत्य-गीत चलता रहता है। अंत में कशले पुनः पाहन और महतो के घर पर स्थापित होने के बाद चौथे दिन का कार्यक्रम समाप्त हो जाता है।

मृत्यु-संस्कार का चौथा दिन वैवाहिक दिन है। इस दिन विवाह से जुड़े कार्यक्रम होते हैं। नैगबेंजा के अंतर्गत तो पाहन-पहनाइन, पुजार-पुजारिन का विवाह होता ही है साथ ही उन समस्त भावी जोड़ों का जिनका विवाह होना निश्चित हो चुका है, का भोज में सम्मिलित होना आवश्यक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं शुभ माना जाता है। इस विधि-विधान का प्रतीकात्मक महत्व है। इस विधि में "सम्मिलन" का भाव अन्तर्निहित है। जन्म के दो छोर हैं- मृत्यु और जीवन। इसी तरह मृत्यु के दो छोर हैं- एक सदैव के लिए विच्छिन्न हो जाना, विलगाव का और दूसरा छोर है सदा के लिए मिल जाने का, शाश्वत मिलन का। विवाह सम्मिलन का प्रतीक है। जैसे प्रकृति और पुरुष का सम्मिलन। इसे आत्मा का परमात्मा में मिलन मानते हैं। यही कारण है कि मृत्यु की सभी क्रिया को विवाह की क्रिया मानते हैं। आत्मा सदा के लिए परमात्मा में लय हो जाती है, पुनः लौटकर नहीं आती। उराँव जीवन-दर्शन के अनुसार वह घर पचबालर या पितरों का स्थल है। तेल से सने गाढ़े सिन्दूर से बार-बार टीके जाने के बाद एख की इस भौतिक संसार से विदाई होती है।

कोहा बेंजा तीसरे दिन के मृत्यु-संस्कार की महत्वपूर्ण क्रिया है। यह वह सम्मिलन बिन्दु है जिसे शाश्वत मिलन कहा जा सकता है। जिस प्रकार पिया के घर विदा होने के पूर्व दुल्हन को सिन्दुर लगाया जाता है, उसी प्रकार एख भी सिन्दुर लगाकर विदा होता है। उराँव पद्धति में लड़की के घर सम्पन्न होने वाली वैवाहिक क्रिया का विशेष महत्व है। लेकिन वे ही क्रियाएँ वर के घर पर भी दुहराई जाती हैं।। दुल्हे के घर पर वैवाहिक कार्यक्रम दुहराये जाने के बाद ही विवाह को पूर्ण माना जाता है। इस तरह कोहा-बेंजा का समापन नैगबेंजा के साथ होता है। इसके साथ ही पचबालर में एख सदा के लिए सम्मिलित होता जाता है। यह सम्मिलन शाश्वत होता है। उराँव धर्म में पुनर्जन्म की अवधारणा नहीं है।

भावी वैवाहिक संबंधों की दृष्टि से भी नैंग-बेंजा का धार्मिक महत्व है। करम पर्व से नैग-बेंजा तक के बीच का समय वैवाहिक अनुष्ठान के लिए वर्जित है। जब तक कोहा-बेंजा यानी महान् विवाह सम्पन्न नहीं हो जाता तब तक गाँव के लड़के-लड़कियों का विवाह नहीं हो सकता है। नैंग-बेंजा के उपरांत विवाह का रास्ता प्रशस्त हो जाता है। नैग-बेंजा मृत्यु-संस्कार की आखिरी क्रिया है। पाँचवें दिन की प्रक्रिया पद्दा कमना गाँव को छूत से मुक्त कराने के लिए की जाती है।

पाँचवां दिन

मृत्यु-संस्कार का अंतिम दिन। गाँव के लोग अखड़ा में एकत्र होते हैं। उस वर्ष जिन घरों में किसी की मृत्यु हुई हो, उनके घर से एक घड़ा हड़िया अखड़ा पर पहुँचा दिया जाता है। कद्दू के खोल में या घड़े में जिसमें कोई काला धब्बा या किसी प्रकार की विकृति न हो, जल भर दिया जाता है। पाहन एक में तांबे और दूसरे में चाँदी का सिक्का डाल देता है जिससे जल शुद्ध हो जाता है। वहाँ से लोग पाहन के नेतृत्व में गाँव की तरफ निकलते हैं। पाहन घड़े या कद्दू के जल का छिड़काव रास्ते में पड़ने वाले घरों पर करता जाता है। इसी क्रम में पचबालर को आह्वान करता जाता है: "मैं अमुक गोत्र की कुण्डी को पवित्र करता हूँ।" गाँव सुख तथा सम्पन्नता से रहे।।" गाँव की परिक्रमा के अंतिम चरण में धरमेश को सफेद मुर्गे की बलि दी जाती है इसके साथ ही प्रार्थना की जाती है: "ओ सूर्य देवता। अब हम लोग गाँव को शुद्ध कर रहे हैं। अब से हमारे कार्य ठीक-ठाक होते रहें। यदि हम कहीं गलत करें तो हमें काँटे न चुभें।"

बलि के मुर्गे के माँस और मृतकों के घर से आए चावल को मिलाकर तहरी बनायी जाती है जिसे "सूड़ी" कहा जाता है। सूड़ी तैयार करने में सादगी का ध्यान रखा जाता है। उसमें नमक के अतिरिक्त किसी प्रकार का मिर्च-मसाला अथवा घी-तेल का प्रयोग नहीं होता है। अखड़ा में उपस्थित सभी लोग सूड़ी ग्रहण करते और शुद्ध होते हैं।

पाँचवाँ दिन मृत्यु-संस्कार के समापन का दिन है। पद्दा-कमना की क्रिया गाँव की शुचिता के लिए की जाती है।

उराँव जनजाति में मृत्यु-संस्कार को धार्मिक एवं सामाजिक महत्व प्राप्त है। इसे "कोहा-बेंजा कहा जाता है। जिस क्रिया के अंतर्गत गोत्र की कुण्डी में अस्थि को समर्पित किया जाता है, कोहा-बेंजा कहलाता है। मृत्यु-संस्कार की यह केन्द्रीय क्रिया है। यह मान्यता है कि प्रत्येक गात्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के पितर या पच-बालर पृथ्वी के नीचे भू-तल में निवास करते हैं। अस्थि-समर्पण की क्रिया द्वारा मृतक के एख का पच बालर से सम्मिलन होता है। वह पृथ्वी से संबंध विच्छेद कर सदा के लिए बालर के बीच चला जाता है, यही कोहा-बेंजा या महान् विवाह है। इसके पूर्व की तैयारी क्रियाएँ कोहाबेंजा की तैयारी होती है और इसके बाद की समस्त क्रियाएँ कोहा-बेंजा की समापन क्रियाएँ हैं जिसकी पुष्टि नैगा-बेंजा से होती हैं।

कोहाबेंजा के परिप्रेक्ष्य में खेखेल-बेंजा का मूल्यांकन समीचीन होगा। खेलेस-बेंजा और कोहा-बेंजा दो किनारे हैं। खेखेल-बेंजा यानी धरती का विवाह यदि उर्वरता के निमित्त बीजारोपण का प्रतीक है, तो कोहा-बेंजा उसका समापन है। कोहा-बेंजा के उपरांत ही छुतका मिटता है तथा खलिहान का अन्न खाने योग्य हो जाता है। खेखेल-बेंजा से कोहा-बेंजा तक की यात्रा बीजांकुर से उसके समापन तक की यात्रा है। ये दोनों जीवन के छोर जैसे हैं- अथ से इति तक के।

उराँवों के जीवन में छुतका का भाव गहराई तक प्रविष्ट कर चुका है। मृत्यु-संबंधी अनेक मान्यताएँ उराँव तथा अन्य आदिम जातियों में प्रचलित हो गयी हैं।

उराँवों ने मृत्यु-संस्कार के बहुत सारे संस्कार आर्यों से ग्रहण किए हैं। बहुत सारे शब्द भी उनसे ग्रहण किए हैं। जैसे 'कुण्डी' शब्द यह कुण्ड शब्द से बना है। अस्थि विसर्जन की रीति भी आर्यों से आयी लगती है। नर्मदा तट से पश्चिमी भारत एवं पूर्वी भारत तक की यात्रा में उराँव आर्यों के सम्पर्क में रहे थे। वैसे उराँव पुनर्जन्म की अवधारणा को नहीं मानते हैं। इनके मृत्यु-संस्कार मांगलिक रीति से सम्पन्न होते हैं- पर्व त्यौहारों की तरह।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ. वीरेन्द्र कुमार सिंह

अरूणाचली जनजातियों की मृत्यु विषयक अवधारणा

भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर अवस्थित अरूणाचल प्रदेश अपने नैसर्गिक सौन्दर्य और विविधताओं के कारण देश में अपना विशिष्ट स्थान रखता हैं। वनाच्छादित पर्वतों और हरित घाटियों से शोभित इस प्रदेश में भगवान भास्कर सर्वप्रथम अपनी रश्मि विकीर्ण करते हैं। यहाँ की धरती साल भर हरी-भरी रहती है। अनेक नदियों एवं झीलों से अभिसिंचित अरूणाचल भूमि ऐतिहासिक और पौराणिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह जनजाति बहुल राज्य है। यहाँ पच्चीस प्रमुख जनजातियाँ निवास करती हैं। इन जनजातियों के पास अपनी परंपरा, संस्कृति और भाषा है। यह प्रदेश अनेक धर्मों, संस्कृतियों, रीति-रिवाजों, भाषाओं तथा पर्व-उत्सवों का संगम स्थल है। प्रकृति से इन जनजातियों का घनिष्ठ रागात्मक संबंध है। विभिन्न जनजातियों के रीति-रिवाज परंपरा, भाषा, संस्कृति, आस्था एवं लोकाचार में पर्याप्त भिन्नता हैं लेकिन सभी जनजातियाँ अपनी परंपराओं और लोक विश्वासों का बहुत सम्मान करती है। धर्म की दृष्टि से अरूणाचली समाज को निम्नलिखित चार प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता हैः-

(१) ब्रह्मवाद अथवा प्रकृतिवाद,

(२) बौद्ध धर्म,

(३) हिन्दु धर्म एवं

(४) ईसाई धर्म।

मृत्यु और अंत्येष्टि संस्कार के संबंध में अरूणाचली जनजातियों की मान्यताओं में परस्पर भिन्नता है। अंत्येष्टि संस्कार से संबंधित रीति-रिवाजों तथा लोकाचारों में भी भिन्नता है। परंतु एक तथ्य द्रष्टव्य है कि प्रायः सभी जनजातियाँ आत्मा, स्वर्ग, अच्छी और बुरी आत्मा इत्यादि की अवधारणा में विश्वास करती हैं। शव को जलाने और दफनाने की दोनों विधियाँ प्रचलित है। प्रायः सभी जनजातियों में मृत्यु के बाद पशुओं की बलि देने की परंपरा है।

यहाँ अरूणाचल की कुछ जनजातियों की मृत्यु विषयक मान्यता और अंतिम संस्कार से संबंधित रीति-रिवाजों पर विचार किया जा रहा हैः

नोक्ते जनजातिः- अरूणाचल के तिरप जिले में नोक्ते जनजाति के लोग निवास करते हैं, इस जनजाति के लोग एक सर्वोच्च धार्मिक शक्ति में निष्ठा रखते हैं। इसे "जोबन", जोंगबन अथवा "तोसोंग" कहा जाता है, आत्मा और विभिन्न प्रकार की दैवी शक्तियों के प्रति भी वे लोग आस्थावान है। वृद्धावस्था या लंबी बीमारी के बाद हुई मृत्यु को ईश्वर, (जौबन) की इच्छा माना जाता है। असामयिक मृत्यु का कारण दुष्ट शक्ति। (जोक) को माना जाता है। गर्भवती महिलाओं की मृत्यु को अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता है। मृत्यु के उपरांत शव को तुरंत नहीं दफनाया जाता, उसे एक दिन से लेकर सात दिनों तक रखा जाता है। गाँव के चीफ या राजा के मरने पर उनका शव एक महीने तक रखा जाता है। इस अवधि में उसके संबंधी और मित्र आकर उनके अंतिम दर्शन करते हैं और मृतक के सम्मान में अन्न आदि भेंट करते हैं। चीफ के निधन पर उसके क्षेत्राधिकार के सभी गाँवों के निवासी एकत्रित होकर नाचते-गाते और खाते-पीते हैं, तब यह शोक समारोह नहीं, उत्सव जैसा लगता है। इस समारोह में मदिरा पीना-पिलाना अनिवार्य है। इस अवसर पर पशुओं की बलि दी जाती है और सभी लोग बांटकर उसका मांस खाते हैं।

नोक्ते समाज में अंत्येष्टि से संबंधित अनेक विधियां प्रचलित है। शव को जलाने और दफनाने की दोनों विधियाँ प्रचलित है। यह गाँव तथा मृत्यु की दशा पर निर्भर है। कुछ गाँवों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में आकस्मिक मृत्य होने पर शव को जला दिया जाता है एवं स्वाभाविक मृत्यु होने पर शव को जमीन में दफनाया जाता है। नोक्ते जनजाति के कुछ गांव में अंतिम संस्कार की एक विशेष विधि भी प्रचलित है। इस विधि में मृतक के शव को बांस के मचान पर खुला रख दिया जाता है अथवा उसे पेड़ पर लटका दिया जाता है।

वांचों जनजातिः- नोक्ते समुदाय की भाँति ही वांचों जनजाति के लोग भी बुढ़ापे या लंबी बीमारी के उपरांत हुई मृत्यु को स्वाभाविक मृत्यु अथवा ईश्वर की इच्छा समझते हैं लेकिन आकस्मिक मृत्यु का "बऊ-रंग" नामक दुष्ट शक्ति की कार्रवाई मानते हैं। वे लोग मृत्यु के बाद चौबीस घंटे तक शव को घर में रखते हैं। इस बीच उसके परिजन और मित्रगण आकर उसके अंतिम दर्शन कर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। चीफ के शव को लकड़ी के बक्से में रखा जाता है। मृतक के संबंधी, परिजन, मित्र और ग्रामवासी सभी स्त्री-पुरूप अंत्येष्टि स्थल पर जाते हैं। शव को जमीन से पाँच-छः फीट ऊपर एक चबूतरे पर रखा जाता है। चबूतरे के ऊपर छोटा-सा छप्पर बनाया जाता है। लकड़ी या बांस से मृतक का पुतला बनाया जाता है और उसे एक खंभे के सहारे लटका दिया जाता है। अंत्येष्टि के समय एक पशु की बलि दी जाती है। परिवार के सदस्य मृतात्मा को प्रतिदिन भोजन पदार्थ अर्पित करते हैं। एक माह के बाद शोधन संस्कार संपन्न किया जाता है। तब तक शव में केवल हड्डी बची रह जाती है। शोधन संस्कार के दिन शव के सिर को धड़ से अलग किया जाता है और सावधानीपूर्वक साफ कर उसे लाल कपड़े में लपेट दिया जाता है। उस दिन सभी ग्रामवासी एकत्रित होते हैं। अनेक लोग मछली मारने के लिए जाते हैं। मछली और चावल तैयार किया जाता है एवं मृतात्मा को अर्पित किया जाता है, जिस दिन सर को धड़ से अलग करने की क्रिया संपन्न होती है उस दिन एक उत्सव मनाया जाता है जिसे "रापोलों अथवा जा फोएतले" कहा जाता है। प्रत्येक वर्ष "पोएतकेले" त्योहार मनाया जाता है। इस त्योहार के दिन परिवार के सभी मृतकों की खोपड़ी घर के बाहर लायी जाती है तथा उसे मदिरा और अन्न अर्पित किया जाता है।

सिंहफो जनजातिः- सिंहफो समुदाय में शव को जलाने और दफनाने की दोनों विधिया प्रचलित हैं। दफनाने के लिए शव को लकड़ी के बक्से में डाला जाता है। जलाने के लिए एक विशेष प्रकार की चिता बनायी जाती है। सर्वप्रथम परिवार के मुखिया द्वारा चिता में आग लगायी जाती है। किसी दुर्घटना में मृत व्यक्ति के शव को नहीं जलाया जाता है, उसे गांव के बाहर जमीन में दफना दिया जाता है। नवजात शिशु की मृत्यु को दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता है एवं उसके शव को अधजला कर गांव के बाहर किसी वृक्ष के नीचे दफना दिया जाता है।

सिंहफो लोग शव के साथ कब्र में कोई वस्तु नहीं गाड़ते हैं। कब्र के निकट बाँस में सफेद कपड़े लटका देते हैं। मृत्यु के बाद ये लोग किसी प्रकार की अपवित्रता का पालन नहीं करते हैं। मृत्यु के सात दिनों के उपरांत एक भोज का आयोजन किया जाता है। सिंहफो जन का विश्वास है उस दिन मृतात्मा अपने पुराने घर में भोजन ग्रहण करने आती है। प्राकृतिक और अप्राकृतिक दोनों प्रकार की मृत्यु में मृतात्मा को भोज्य पदार्थ अर्पित करने का विधान है। मृतक की आत्मा को सुख-शांति देने के लिए बौद्ध पुजारी आकर अंत्येष्टि संबंधी संस्कार संपन्न कराता है। बौद्ध पुजारी मृतक के व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुएं, जैसे छाता, बर्तन, कपड़े आदि ले लेता है और उन वस्तुओं को स्थानीय बौद्ध मठ के उपयोग के लिए रख देता है। गाँव के चीफ की मृत्यु के बाद एक विशेष प्रकार का समारोह आयोजित किया जाता है जिसे "मोंगलय" कहा जाता है। प्रतिदिन मृतात्मा को भोजन अर्पित किया जाता है। सूअर, भैंस आदि जानवरों की बलि दी जाती हैं तथा लोग शव के निकट नाचते-गाते हैं। सामुहिक भोज में संबंधी और गांव वासी शामिल होते हैं। यह समारोह महीने भर चलता है। समारोह के अंतिम दिन शव को दफना दिया जाता है।

निशि अथवा निशिंग जनजातिः- अरूणाचल के लोअर सुबनसीरी, अपर बुबनसीरी तथा पपुमपार जिलों में निशिंग जनजाति की प्रमुख आवादी निवास करती है। इसे निशि, निशांग तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बैंगनी भी कहा जाता है। पहले इस जनजाति के लोग "दफना" नाम से जाने जाते थे। वे लोग "आबो तानी" को अपना पूर्वज मानते हैं। निशि लोग सामान्य और सामान्य मृत्यु को अपने पारंरिक नजरिये से पारिभापित करते हैं। वृद्धावस्था की मृत्यु को सामान्य मृत्यु माना जाता है। ऐसी मृत्यु के संबंध में धारणा है कि मानव की जीवनी शक्ति (लोचांग) के समाप्त हो जाने के कारण वृद्धावस्था की मृत्यु होती है। इसे ईश्वरेच्छा माना जाता है। लेकिन यौवनावस्था अथवा दुर्घटना के कारण हुई मृत्यु को असामान्य मृत्यु माना जाता है। इसका कारण "वियू" अथवा "ओरम" नामक दुष्टात्मा को माना जाता है। इनके पारंपरिक विश्वासों में मृत्यु की प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य है। इनका विश्वास है कि जब बच्चा माता के गर्भ में रहता है उसी समय मृत्यु निर्धारित हो जाती है। निशि लोग शव को अपने घर के निकट ही दफना देते हैं। मृतात्मा की अंतिम यात्रा के लिए शव के साथ कुछ वस्तुओं को कब्र में गाड़ने का रिवाज है। इनकी कब्र-निर्माण प्रक्रिया अत्यंत सुव्यवस्थित है। कब्र के निकट बांस के गुंबज बनाये जाते हैं तथा उसे पत्तियों, बांस के छीलने एवं बलिपशु के सींगों से सजाया जाता है। धनी व्यक्ति की मृत्यु होने पर अनेक मिथुन और सूअरों की बलि दी जाती है लेकिन गरीब व्यक्ति की मृत्यु होने पर एकाध छोटे जानवर की बलि देकर संस्कार संपन्न कर दिया जाता है। किसी की मृत्यु होने पर सभी लोग एकत्रित होकर मृतक के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करते हैं। इन लोगों की धारणा है कि बलि पशु आत्मा के साथ ही स्वर्ग में जाते हैं।

निशि लोगों का विश्वास है कि मृत्यु के बाद ("नेली न्योका") में चली जाती है। मृतकों की दुनिया "नेली न्योका" के नाम से जानी जाती है यह पृथ्वी के नीचे किसी स्थान पर अवस्थित है वहाँ का जीवन भी पार्थिव जगत के समान है। "ओरम" उस भीतरी संसार में सहज जीवन व्यतीत करता है, खेती करता है एवं अपने परिवार के साथ रहता है। "ओरम" अथवा आत्मा की एक बार पुनः मृत्यु होती है। मृत्यु के बाद वह "ओरम क्युलु" में चली जाती है। कभी-कभी आत्मा जीव-जन्तुओं का रूप धारण कर इस संसार का भ्रमण करने के लिए आती है।

तागिन जनजातिः- अरूणाचल के ऊपर सुबनसिरी ओर वेस्ट सिमांग जिले तागिन जनजाति के निवास क्षेत्र है। १९९१ की जनगणना के अनुसार इस जनजाति की जनसंख्या २८क्ष८६० धार्मिक दृष्टि से तागिन समाज प्रकृतिपूजक हैं तागिन समुदाय का विश्वास है कि यह संसार "वियु" से भरा हुआ है "वियु" की कुदृष्टि से ही असामयिक मृत्यु, रोग, निर्धनता आदि का प्रकोप होता है। ऐसी मान्यता है कि "वियु" को चढ़ावा नहीं चढ़ाने से वह नाराज़ हो जाती है तथा बीमारी और मृत्यु के रूप में अपना रोष प्रकट करती है। पर्वत शिखर से गिरकर अथवा डूबकर होने वाली मृत्यु के भी "वियु" के रोप का परिणाम माना जाता है। "वियु" अथवा दुष्ट शक्ति उस समय भी नाराज़ हो जाती है जब जंगल में काम करते समय कोई व्यक्ति उसके निवास स्थल के साथ छेड़छाड़ करता है अथवा जब कोई व्यक्ति समाज के परंपरागत नियमों का उल्लंघन करता है। अलग-अलग दुखों के लिए अलग-अलग प्रकार के "वियु" को उत्तरदायी माना जाता है तथा उसे प्रसन्न करने की विधियों में भी अंतर है। कुछ दुष्ट शक्तियाँ सुअर की बलि पाकर ही संतुष्ट हो जाती है तो कुछ को मिथुर की बलि देनी पड़ती है। "वियु" मनुष्य के दैनिक कार्यों को प्रभावित और नियंत्रित करती है। तागिन जनजाति के लोग आत्मा को "यलो" के नाम से जानते हैं।

तागिन लोग मृत्यु के बाद दो दिनों तक शव को रखते हैं ताकि उनके सगे संबंधी उनके अंतिम दर्शन कर सकें। उसके बाद शव को दफना दिया जाता है। शव के साथ कब्र में कुछ दैनिक उपयोग की वस्तुएँ भी रखने की परंपरा है। इस समाज में एक अनोखी परंपरा पायी जाती है। ऐसी मान्यता है कि बंदर बौद्धिक दृष्टि से मनुष्य का निकटतम प्राणी है और अंतिम यात्रा में वह मनुष्य का सर्वोत्तम सहयात्री साबित होता है। इसलिए बंदर को मारकर शव के साथ दफनाने का रिवाज है। शव को कपड़े और पत्तों से ढ़कने के बाद उस पर मिट्टी डाली जाती है। मृतक का परिवार दस दिनों तक कुछ निपेधों का पालन करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आपातानी जनजातिः- आपातानी जनजाति अरूणाचल की एक उद्यमशील जनजाति है। लोअर सुबनसिरी के "जिरो" नामक स्थान में इनका निवास करती है। जिसे आपातानी घाटी के नाम से भी जाता जाता है। अपनी पड़ोसी जनजातियों की तरह आपातनी लोगों का भी "वियु" की सत्ता में विश्वास है इनकी धारणा है कि संसार के सभी पदार्थ "वियु" से संबंद्ध नियंत्रित और संचालित हैं। आपातानी समाज का वियु जगत तीन वर्गों में विभक्त हैं- मानव को हानि पहुंचाने वाले वियु, युद्ध और कलह देने वाले वियु तथा सुख-समृद्धि देने वाले वियु। यदि मनुष्य वियु से अच्छा संबंध नहीं रखता है और यथासमय मिथुन, सूअर आदि जानवरों की बलि देकर पूजा-आराधना नहीं करता है तो वे मनुष्य को रोग, शोक और कष्ट देते हैं।

आपातानी लोग शव को दफनाते हैं। धनी व्यक्तियों के शव को घर के निकट ही दफना दिया जाता है एवं गाय, मिथुन आदि जानवरों की बलि भी दी जाती है। दफनाने के पूर्व शव को कपड़े में लपेट दिया जाता है कब्र के निकट मृतक के सम्मान में एक बांस खड़ा कर दिया जाता है एवं बांस में बलिपशु की खोपड़ी लटका दी जाती है। मृत्यु के बाद परिवार के लोग कुछ दिनों तक कुछ विशिष्ट निषेधों का पालन करते हैं।

आत्मा के अस्तित्व में आपातानी समाज की प्रबल आस्था है मृत्यु के उपरांत आत्मा (यलो) मृतकों के संसार में चली जाती है। मृतकों के संसार को "नेल्ली" कहा जाता है। नेल्ली का जीवन भी पार्थिव जगत के समान है। मृत्यु होने के बाद महिला अपने प्रथम पति के साथ "नेल्ली" में दापंत्य जीवन व्यतीत करती है। ऐसी मान्यता है कि अविवाहित पुरुष "नेल्ली" में जाने के बाद शादी भी कर सकता है। आपतानी लोगों की धारणा है कि जिन लोगों की असामयिक मृत्यु होती है उनकी आत्मा एक दूसरी दुनिया में जाती है जिसे "तालिमोको" कहा जाता है। यह आकाश में किसी स्थान पर स्थित है। इन लोगों की मान्यता है कि "नेल्ली" में केवल मृतक लोग ही नहीं रहते बल्कि वहा भूत-प्रेतों का भी निवास है।

हिलमीरी जनजातिः- अरूणाचल के लोअर सुबनसिरी जिलों में हिलमीरी जनजाति के लोग निवास करते हैं। हिलमीरी समाज "सिन्दोन्यी" की सत्ता में आस्था रखता है। यह धरती (सि) और सूर्य का वाचक है। इनका विश्वास है कि माता सूर्य मानव की रक्षा करती है, रोगों से बचाती है तथा सुख-समृद्धि देती है।

इन जनजाति की मृत्यु संबंधी अवधारणा भी निशि जागिन आपातानी इत्यादि के समान है। इनकी मान्यता है कि मृत्यु हमेशा किसी दुष्ट शक्ति के कोप के कारण होती है। मृत्यु के बाद आत्मा या "यलों" को दुष्ट शक्तियाँ अपने साथ ले जाती हैं और कुछ दिनों तक अपने साथ रखती हैं। मृतकों के संसार में भी इस जनजाति की आस्था है। मृतक जगत को "नेली" के नाम से जाना जाता है। हिलमीरी लोग करने वाले व्यक्ति के हाथ पर एक अंडा रख देते हैं ताकि मरणासन्न व्यक्ति की अंतिम यात्रा निरापद हो सके। मृत्यु के बाद मिथुन की बलि दी जाती है। पुजारी मृतात्मा की सुख-शांति के लिए पारंपरिक विधि से संस्कार कराता है।

वे लोग मृत्यु के बाद एक दिन तक शव को रखते हैं। दूसरे दिन उसको घर के निकट दफन करते हैं। शव के साथ कब्र में खाद्य पदार्थ, मदिरा और मृतक की व्यक्तिगत चीजें रखी जाती हैं। कब्र में जहाँ पर मृतक की छाती रहती है, उसके ऊपर एक पत्थर रख दिया जाता है। इससे कब्र के निकट भूत-प्रेत नहीं आएंगे, ऐसी मान्यता है। कब्र के चारों ओर बाड़ लगा दीया जाती है। शव के दफन करने के उपरांत भी लोग नदी या झरने में स्नान करते हैं। इसके बाद वे लोग दो समूहों में विभक्त हा जाते हैं। एक समूह में मृतक के परिवार के सदस्यगण होते हैं तथा दूसरे परिवार में गांववासी। इसके बाद पुजारी (नीबो) बारी-बारी से दोनों समूहों की ओर से मुर्गे की बलि देता है। इसके बाद पुजारी एक अंडा को पानी में मिलाकर बांस के पत्ते से शव यात्रा में शामिल लोगों के शरीर पर छींटता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मणिपुरी मृत्यु गीत

मणिपुरी भाषा में लोकगीतों की सीमित संख्या है। मणिपुर के महाराजा गरीबनिवाज (१७०९ से १७४८) ने मणिपुरी भापा में गीत गाने पर प्रतिबंध लगा दिया था और शाप दिया कि जो व्यक्ति मणिपुरी भाषा में गीत गाएगा वह दिन में मरने पर कौआ और रात में मरने पर उल्लू के रूप में जन्म लेगा।[1] परिणामस्वरूप मणिपुरी लोकगीत परम्परा अवरोधित हुई किन्तु आंशिक रूप से लाइहराओबा नामक पर्वोत्सव एवं नृत्य में मायबा-मायवी (पुजारी-ओझा) द्वारा मंत्र-शक्ति-युक्त गीत गाने की परम्परा जारी रही। ये गीत मायबामायवी के साथ उपस्थित जन-समूह भी गाता है।

संस्कार गीतों की परम्परा १८ वीं शताब्दी के वाधित होने के बाद संस्कारों पर व्यावसायिक गायकों द्वारा संस्कृति, मैथिली बंगला और ब्रजबुलि के गीत गाने की परम्परा चल पड़ी। स्थानीय भाषा में गाने पर प्रतिबंध आव्रजक ब्राह्मणों ने स्वार्थ सिद्धि हेतु लगवाया था। आज भी यह परम्परा जारी है किन्तु अब मणिपुरी भाषा के गीत गाये जाते हैं। आज भी ये गीत व्यावसायिक गायकों के द्वारा गाए जाते हैं।

लाइहराओबा के साथ गाया जाने वाला एक लोकगीत प्रस्तुत है-

"सरारेन्ना नोङमदोन कागे हायरेदा,
हा इपा खाओपुवा पुररो-पुररो[2]।

अर्थात् सरोरेन (देवता) स्वर्ग जाने की आज्ञा दे गए हैं। अतः हे झोले वाले पिता। तुम उनको ले चलो।

सरोरेन का वर्षा करने वाले देवता के रूप में मणिपुरी "पुया" (पुराणों) में वर्णन है। झोले वाला पिता, मृत्यु के देवता को कहा गया है और उससे सांस्कारिक जीवों को ले जाने की प्रार्थना की गई है। उपर्युक्त गीत में स्वर्ग के देवता सरोरेन के द्वारा सांसारिक प्राणियों को स्वर्ग जाने के आदेश का उल्लेख करने के बाद मृत्यु के देवता से उन्हें साथ ले जाने की प्रार्थना करना विचित्र लगता है। किन्तु मृत्यु अवश्यंभावी है अतः इस प्रार्थना का मंतव्य यह हो सकता है कि जिनकी पारी आ गई है उन्हें ले जाइए। जीवन दर्शन की इन दो पंक्तियों में सुन्दर अभिव्यक्ति हैं। स्वर्ग जाने की अभिलाषा के कारण मृत्यु के देवता को स्वर्ग ले जाने के लिए अनुनय-विनय का भाव इन पंक्तियों में उपलब्ध है।

मणिपुरी भाषा की प्राचीन मौखिक रचनाओं को "तेंथा" कहा जाता है जिसका अर्थ स्तवन गीत है। "तेंथा" अनुष्ठानिक गीत है। "तेंथा" के संबंध में राजकुमार झलझीत सिंह ने लिखा है- स्तवन गरत मौखिक रूप से सीखे औरसिखाए जाते थे और प्रसारित होते रहे[3]। तेंथाओं का रचनाकाल, रचयिता एवं संख्या अज्ञात है परन्तु निर्विवादरूप से ये प्राचीनतम मौखिक गीत हैं। मायबा-मायबी आज भी इनका सस्वर पाठ करते हैं। यहाँ "लैंनुंग थोड़ारेन" (मृत्यु का देवता-यम तुल्य) को संबोधित करके गाया जाने वाला एक "तेंथा" द्रष्टव्य है:

"दे शिदबा लैंनुं। थोड.ारेन अहनबाओ।

1. कवि श्रीमाला- मणिपुरी, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, पृ.५
2. एस. लनचेनबा मीते, राजस्थानी और मणिपुरी त्यौहार गीतों का व्यतिरेकी अध्ययन (१९८६) प्रकाशित, पृ. २२
3. राजकुमार झलजीत सिंह, ए हिस्ट्री ऑफ मणिपुरी लिटरेचर, पृ. २०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आशिबा चामा नोंदम्बा। अचंबा चामा नोंखाइबा।
थौथा शिनथोड. हैबा। अचंबा चामा थों हांबा।
आशिबा चामा थों हांबा। अमन शिकुमलोंलम शिनबा।
लाइनिड. थौनड.ना। अशिबा थोड. थिंबिओ।
अचंबा थोड. हांबिओ। हे करूलाइनिड.थौ ओ।[4]।

भावानुवाद : हे अमर्त्यप्रभु भूतल के। हे थोड.रेन। हे सर्वश्रेष्ठ। शत-शत मृतकों के नियतिकार। शत-शत जीवित के निर्णायक। हे परम कुशल शासन कर्त्ता। हे जीवितों के उद्धारक। शत-शत मृतकों के निगडबंध। हे मृत्यु युद्ध के संचालक। हे देव श्रेष्ठ, देवाधिदेव। कीजिए अब बन्द मृत्यु के द्वार। उद्घाटित कीजिए जीवन कपाट। हे देव प्रवर। देवाधिदेव।

"तेंथा" में लैंनु थोड.रेन (यम) से मृत्यु के कपाट बन्द और जीवन के द्वार उन्मुक्त करने की प्रार्थना का कारण जिजीविषा है। मृत्यु देवता के विभिन्न गुणों का उल्लेख है।

डॉ. लम्वोदर झा ने अपने आलेख "प्राचीन मणिपुरी की आर्य गीति" में लिखा है- "ऋग्वेद में यम से सम्बन्धित तीन सूक्त उपलब्ध हैं। जिनमें एक सूक्त की कुछ ऋचाओं के भाव में और इस तेंथा के भाव में विलक्षण साम्य द्रष्टव्य है।[5]।

"परेभिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पान्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं सड्. गमनं जनानां यमंराजानं हविभा दुवस्य।। ऋ. 10/14/1

अर्थात् उत्तम कर्मवालों को उत्तम स्थान देने वाले तथा अनेकों के मार्ग दर्शक जीवों के स्वामी तथा उन्हें एक स्थान पर मिलाने वाले नियन्ता श्यम का उत्तम हवि एवं स्तुति से सत्कार करना चाहिए।

"यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वेपितर : परेयुरेना जज्ञाना : पथ्या अपुस्वाः ।। ऋ. 10/14/2

अर्थात् ये सर्वोत्कृष्ट नियन्ता हैं। ये हमारी वाणी एवं स्तुति के पात्र हैं। हमारे पूर्वज पितर जिस पथ आश्रयण का जाते रहे हैं, हमें भी उस पथ का आश्रयण करना चाहिए।

"अडि.गरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषा वयं सुमतो यज्ञियंनामपि भद्रं सौमन से स्याम ।। ऋ. 10/14/5

अर्थात् प्रखर तेजस्वी प्रजा के पालक सदैव नवीन वाणी के प्रकटकर्त्ता एवं पापसंहारक ये अन्नादि भोज्यों से सत्कार करने योग्य हैं। हम उनके निर्दिष्ट मार्ग पर सदा दन्त्रचित रहें।

"यौ ते खानौयमक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षसौ।
ताम्यामेनं परि देहिराज त्स्वस्ति वास्मा अनभीवंच थहि।। ऋ. 10/14/11

अर्थात् हे यमराज। मृत्यु रक्षक, चतुर आश्रमों में व्याप्त, जीवन मार्ग रक्षक, देहनायक, आत्मा को ज्ञानादि के दर्शन करानेवाले, सदैव सक्रिय तेरे जो प्राण-अपान हैं, उनसे इस जीवन को युक्त कर सुखी एवं रोग रहित शरीर प्रदान कर।

तेंथा एवं ऋग्वेद की ऋचाओं का साम्य द्रष्टव्य है। इस साम्य के कारण पर प्रकाश डालते हुए राजकुमार झलजीत सिंह ने कहा है कि भारत से आर्य निरन्तर मणिपुर आए थे, इसीलिए यम स्तुति और तेंथा में भाव साम्य है।[6]।

---

4. अतोमबापु शर्मा, पाखंबा, प्रथम खण्ड, पृ. २१
5. लम्बोदर झा, परामर्श, हिन्दी खंड १६ अंक १, दिसम्बर १९९४
6. उपरि ३, पृ. २८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मृत्यु शाश्वत सत्य है और मरने के बाद कोई लौटकर नहीं आता। इस तथ्य का एक अन्य गीत में उल्लेख देखिए:

सप्ताह पुनः पुनः लौटता है
किन्तु जीवन पुष्प नहीं लौटता है
मास भी पुनः लौटता है
किन्तु जीवन नहीं लौटता है।[7]

जीवन के अंत के बाद मृतात्मा लौटकर नहीं आती। गीत में नश्वर जीवन के प्रति चिंता प्रकट की गई है।

एक अन्य लोकगीत में जीवन का अंत यथासमय होता है और उस अंत के लिए किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है, इस भाव को पुष्प-पवन के रूपक के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है-

(चिड. दा सातपी इडे. ल्लैं, चीड. न्नदना केनखिबा,
हो कल्लकइ-कल्लकइ दे, ऐना केनगे केनदेदो।
मालड. बना हुम्बगी कैनबनी, मालड. बा ऐसू कैदोदे,
लैराड. लैखोक लोइबना, हो केनबनि केनबनिदे।[8]

भावानुवाद- पुष्प "इडें." पर्वत पर खिला किन्तु किसी के कान (मणिपुर में स्त्री पुरुष कान में फूल टांगने हैं) की शोभा नहीं बन सका और शाखा से टूटकर गिर पड़ा। पुष्प की इस दुर्दशा पर कोई हंस पड़ा। तो पुष्प ने उस हँसी उड़ाने वाले से कहा कि मैं स्वयं शाखा से टूटकर नहीं गिरा हूँ। वेगवान पवन के झोंके ने मझे भूलुंठित किया है। इस पर पवन ने कहा- इसमें मेरा दोष नहीं हैं। पुष्प यथा समय स्वतः टूट कर गिरा है।

संवाद शैली में जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति स्पृहणीय है। "टूटे टूटन हार जरू वायु न दीजे दोष" से भाव साम्य है। पुष्प की सार्थकता कान की शोभा बनने में थी किन्तु उसको अवसर नहीं मिला। मानव जीवन भी अपनी सार्थकता प्रमाणित करने से पूर्व ही समाप्त हो जाता है। अंत का कारण कुछ भी हो परन्तु वास्तविक कारण तो निश्चित अंत समय है।

मृत्यु एक ही बार आती है दुबारा नहीं। एक उद्‌बोधन गीत में वीर पुरुष का इस संबंध में कथन द्रष्टव्य है- "इपा मचा नोंग्दमगे, इपु मचा नोंखाइगे- नहादे निपादे-नोंग्मा पाकपा मचाना-निनि शिबा हौनदे।"[9] अर्थात् मैं अपने पिता का पुत्र कहलाऊँगा। दादा जी का पौत्र कहलाऊँगा क्योंकि मैं मर्द (युवक) जो हूँ। पुरुष एक बार जन्म लेता है और दुबारा नहीं मरता। मृत्यु से युवक भयभीत नहीं है। क्योंकि मृत्यु निश्चित है। और दो बार नहीं आती है।

मणिपुरी भाषा में लोकगीतों की संख्या सीमित है और मृत्यु गीत तो बहुत ही कम है। उपलब्ध गीतों के आधार पर यह टिप्पणी प्रस्तुत की गई है।

•

7. उपरिवत, पृ. १८०
8. संकलित
9. संकलित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नवलकिशोर

तीन पुस्तकें

१. छठे दशक में कहानी को हिन्दी में गंभीरता से लिया जाने लगा और अगले दो दशकों तक हिन्दी आलोचना में उसकी चर्चा इतनी प्रमुख रही कि अनेक आलोचकों ने उसे केन्द्रीय साहित्यिक विधा का दर्जा दे डाला। उस दौर में 'कहानी', 'नई कहानियां' और 'सारिका' जैसी कहानी-पत्रिकाएँ इस नई साहित्यिक हलचल का केन्द्र बनीं। 'नई कहानियाँ' में डॉ. नामवरसिंह के लेखों में 'नई कहानी' का जो आन्दोलन चला उसे आगे चलकर डॉ. देवीशंकर अवस्थी से एक नया बल मिला। लेकिन उस आन्दोलन पर जल्दी ही काबिज हो गई मोहन राकेश, कमलेश्वर, और राजेन्द्र यादव की तिकड़ी। इन लोगों ने उस दौर में कुछ बेहतरीन कहानियां ज़रूर लिखी, लेकिन कथा-मंचों पर अधिकार जमा कर इन्होंने और इनके चहेतों ने कथा-आलोचना में बड़ा कुहासा मचाया। इनका सबसे प्रिय शगल रहा जैनेन्द्र-अज्ञेय-यशपाल वाली अपनी पूर्व पीढ़ी का मूर्ति-भंजन। न केवल यह पूर्वपीढ़ी उपेक्षा का विषय वनी, इनकी अपनी पीढ़ी में से भी कुछ बहुत अच्छे रचनाकार पीछे धकेल दिए गए। यह स्थिति बहुत दिनों नहीं चल सकती थी और न कहानी केन्द्रीय विधा बनी रह सकती थी। इस दौर की हिन्दी कथा-आलोचना इस कदर कहानी-केन्द्रीय हो गई थी कि उसके लिए उपन्यास-लेखन भी दोयम दर्जे का रचना-कर्म सा हो गया था। नवें दशक में आकर कहीं हिन्दी-आलोचना से नई कहानी आन्दोलन द्वारा छोड़ा गया यह कुहासा छटा। ऐसे में एक ऐसी किताब बहुत ज़रूरी थी, जो तीन दशक से ऊपर के कहानी के इस हलचल भरे दौर का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हो। मधुरेश ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी कहानी का विकास' से इस दिशा में एक सार्थक पहल की है। इस पुस्तक में मधुरेश का प्रयास रहा है हिन्दी कहानी के समूचे विकास-क्रम पर दृष्टि डालते हुए नई कहानी, सचेतन कहानी, अकहानी, समांतर कहानी और जनवादी कहानी तक के आंदोलनों का मूल्यांकन। उन्होंने अपना मूल्यांकन बहुत कुछ एक उदार मार्क्सवादी नजरिए से किया है और इस कारण कहानी-लेखन में दृष्टिगत विषयगत बदलाव पर वे बहुत अच्छा प्रकाश भी डाल सके हैं, लेकिन कहानी में घटता रूपगत परिदृश्य उनसे लगभग छूट गया है।

मधुरेश ने पुस्तक के पहले तीन अध्यायों में नई कहानी से पूर्व तक की हिन्दी-कहानी की विकास-यात्रा का संक्षेप में आकलन करते हुए महत्वपूर्ण कथाकारों को रेखांकित किया है। प्रेमचन्द उन्हें सन् १९१६ से १९३६ तक के दो दशकों के देश के सामाजिक-राजनीतिक वृत्तान्तों के अत्यन्त प्रामाणिक लेखक लगे हैं और जैनेन्द्र-अज्ञेय-यशपाल की सीमाओं के निर्देश के साथ उन्होंने उनके रचनात्मक अवदान को सामने रखा है। साथ ही उस युग के अन्य महत्व योग्य कहानीकारों को भी जगह दी है। 'नई कहानी' में वे दो समानान्तर धाराओं की स्पष्ट पहचान का आग्रह करते हैं- एक अनुभववादियों की धारा है जिसकी आगे चलकर परिणति 'अकहानी' में होती है और दूसरी समाजवादियों की है, जो आगे बढ़कर 'जनवादी कहानी' में समाहित होती है।

यह विभाजन यद्यपि हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना के एक बहुप्रचलित विभाजन के अनुरूप है, लेकिन मधुरेश ने उसे एक अल्पविवाद्य तर्क-संगति के साथ रखा है।

उनकी मूल्यांकन-दृष्टि को समझने के लिए कुछ कहानीकारों पर उनकी सूत्रात्मक टिप्पणियाँ देखी जाएं:

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(i) मोहन राकेश सीमित सरोकारों के लेखक हैं +++ उनकी परवर्ती कहानियाँ खास तौर से मूल्य-निषेध, अमूर्तन और कलावादी भटकाव की शिकार हैं।

(ii) शिल्प-चमत्कारों के कारण राजेन्द्र यादव की कहानियाँ वैसी ही 'गढ़ी' और 'बनाई' गई कहानियाँ लगती हैं +++ शिल्पवैचित्र्य से अधिक उसकी शोखी उनमें है, जिसके कारण वे अपनी भूमिकाएँ भी सीधे-सादे ढंग से नहीं लिख पाते।

(iii) कमलेश्वर की रचनात्मकता का सबसे बड़ा संकट उनकी वैचारिक विपन्नता से सम्बन्धित है।

(iv) निर्मल वर्मा के लिए कला, अनुभव और फॉर्म सबके सब अपनी आत्मपरकता में ही महत्वपूर्ण है और उनकी संपूर्ण कथा-यात्रा इसी आत्मपरकता में संपन्न होती है।

(v) परसाई के बाद कदाचित् इस दौर में रेणु अकेले ऐसे लेखक हैं, जो व्यंग्य की सर्जनात्मक संभावनाओं का उपयोग करते हैं।

मधुरेश ने सचेतन और समांतर कहानी को केवल सायास चलाए गए आन्दोलनों का परिणाम बताया है और इस कारण उनकी उपलब्धियाँ भी साधारण ही रही हैं। 'अकहानी' का वे 'नई कहानी' में वैचारिकता के क्षरण और राजनीति के निषेधवाली दृष्टि का एकांगी, अतिरेकी और अतिरंजनापूर्ण विकास मानते हैं। इन धारणाओं और उनके आधार पर किए उनके मूल्यांकन से असहमति की गुंजाइश कम ही है। लेकिन समकालीन कहानी पर लिखते हुए वे बहुत चलती टिप्पणियाँ देते हैं, जैसे उदयप्रकाश में उन्हें रचना-दृष्टि की विपन्नता और भाषिक छल दिखाई देता है। यह एक बहुत संदिग्ध टिप्पणी है। जनवादी कहानीकारों में भी उन्होंने स्वयंप्रकाश जैसे उल्लेख्य लेखक को एकदम भुला दिया है। अंतिम दोनों अध्यायों में उन्हें हम अपनी पुस्तक को समेटने की जल्दी (ज़रूरत से ज्यादा) में पाते हैं। महिला कथाकारों पर वे अलग से चर्चा करते हैं, पर दलित-आंदोलन का कोई जिक्र नहीं करते। समकालीन कहानी के अवलोकन के लिए अपने को किसी ठीक से बिन्दु पर वे स्थापित नहीं कर पाए हैं। यहाँ उनकी हालत लेखनान्त पर गड़बड़ा गए लेखक के जैसी हो जाती है। लेकिन इससे उसके द्वारा चि"ति यात्रा-वृत्त का महत्व कम नहीं होता।

'हिन्दी कहानी का विकास-क्रम' हिन्दी कहानी को शुरुआत से आज तक संक्षेप में समझने के लिए एक ज़रूरी-सी किताब की तरह आई है। हिन्दी कहानी के पाठकों- छात्रों के लिए तो यह निश्चय ही एक बहुत उपयोगी पुस्तक है।

२. मूलतः कवि और मुख्यतः काव्यालोचक परमानन्द श्रीवास्तव ने कथा-आलोचना में भी अच्छी खासी दखल दी है। कहानी पर उनका शोध प्रबन्ध 'हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया' और 'उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा' तथा 'जैनेन्द्र और उनके उपन्यास' उल्लेखनीय महत्व पा चुके हैं। उपन्यास पर उनकी पहली किताब ज्यादातर पुस्तक समीक्षाओं के रूप में है। उनकी नई कृति 'उपन्यास का पुनर्जन्म' में भी पचीस उपन्यास समीक्षाएँ हैं, जिन्हें कालक्रम में रखते हुए उसे पुस्तक रूप दिया गया है। इसमें कुछ लेख पिछली किताब से हैं और कुछ नए। पुस्तक का शीर्षक उन्होंने 'मुझे चाँद चाहिए' पर लिखे अपने समीक्षा-लेख से दिया है। उनके अनुसार उपन्यास को एक नए रूप में संभव करने के लिए 'मुझे चाँद चाहिए' का लेखक कथा-भाषा में नाट्य-भाषा का निरन्तर हस्तक्षेप करता रहता है। लेकिन चूँकि परमानन्द जी ने उपन्यास की मृत्यु और नए रूप में उसके संभावित पुनर्जन्म पर अलग से कुछ नहीं लिखा है, इसलिए पुस्तक का नाम चमत्कार मोह में ही दिया गया अधिक लगता है।

भूमिका में उन्होंने योरोपीय औपन्यासिक ढाँचे से भारतीय उपन्यास की मुक्ति के लिए जातीय यथार्थवाद अर्थात् स्थानीय आँचलिक स्पर्श को आवश्यक माना है और सर्जनात्मक खिलवाड़ की कलात्मक युक्ति को यथार्थवाद से अधिक महत्व देने का आग्रह किया है। इस दिशा में परम्परा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से प्रेरणा के लिए उन्होंने शिवपूजनसहाय की 'देहाती दुनिया', प्रेमचन्द के 'गोदान' और निराला के 'कुल्ली भाट' एवं 'बिल्लेसुर बकरिहा' का खास जिक्र करते हुए लिखा है कि जो उपन्यास यहाँ (पुस्तक में) विश्लेपण के लिए चुने गए हैं, उनमें अनेक उपन्यास के परिचित रूप को तोड़ने वाले हैं।' लेकिन उनका यह वक्तव्य उनकी कृति-समीक्षाओं पर खरा नहीं उतर पाया है। उनकी इन समीक्षाओं से वह आलोचनात्मक प्रतिमान अलक्षित बना रहता है, जिसके आधार पर समीक्ष्य कृतियों को चुना गया है और जो समान रूप से उनकी समीक्षाओं में अन्तर्भुक्त हो। अधिकतर लेखों में कृति की विषय वस्तु की चर्चा के साथ जीवन और यथार्थ से लेखक के सरोकारों की चर्चा ही प्रमुख है; उस रचनात्मक प्रयास को या तो लगभग नहीं या बहुत कम उभारा गया है, जो कृति विशेष को अपनी अलग पहचान देती हो। सभी लेख चर्चित कृतियों पर हैं। पर चर्चित होने मात्र से कोई कृति विशिष्ट नहीं हो जाती क्योंकि कभी चर्चा के निमित्त भी संदिग्ध हो सकते हैं। आलोचक यदि चयन का अपना निमित्त स्पष्ट नहीं कर पाता तो उसकी आलोचना में कम या विशेष महत्व की रचना एक-सा स्थान पा जाती है। परमानन्द जी अपनी इस पुस्तक में उस खतरे से बच पाए हैं तो इसलिए कि एक साहित्यमर्मज्ञ की परिष्कृत आस्वादिता को वे कभी नहीं त्यागते।

परमानन्द जी में जातीय यथार्थ का तीव्र बोध है और इसलिए विवेच्य उपन्यासों में स्थानिकता या आंचलिकतापरक उपन्यासों का उनका विवेचन अधिक महत्व का है। अपनी कवि-दृष्टि के साथ कृति-विशेष की भाषा या संरचना पर जब वे बात करते हैं तो पाठक को उसके अधिक निकट ले जा होते रहे हैं।

परमानन्द जी की आलोचना-दृष्टि को मोटे तौर ऐसी जनवादी साहित्य-दृष्टि कहा जा सकता है, जिसमें कलात्मक रुझानों के प्रति पर्याप्त आदर है। इसलिए तब ताज्जुब ही होता है जब वे मनोहर श्याम जोशी, विनोद कुमार शुक्ल और सुरेन्द्र वर्मा की प्रशंसा बिना किसी 'लेकिन' के करते हैं।

'उपन्यास का पुनर्जन्म' कथा-आलोचना में बहुत हस्तक्षेप करे या न करे, पाठकों को समीक्षित उपन्यासों को थोड़ी नई निगाहों से देखने की उत्तेजना अवश्य देता है। परमानन्द जी की आलोचना पढ़ते हुए हम जिस आलोचना-भाषा से गुजरते हैं वह एक सर्जक गद्यकार की भाषा होती है, जो उनकी आलोचना को अतिरिक्त पठनीयता भी देती है। उनकी समीक्षाओं के शीर्षक भी अपने आप में पठनीय हैं: यथा-ठेठ देशज ठाट का उपन्यास; ऐतिहासिक त्रासदी और मानवीय जिजीविषा; ऐतिहासिक समय और मानव-सम्बन्ध; प्रेम, अकेलापन और मानवीय नियति, आज शब्बीर पै क्या आलम तनहाई है; लौहजाल तोड़ने से पहले; स्मृति और वर्तमान का द्वन्द्व; उपन्यास में नाटक, उपन्यास का पुनर्जन्म।

३. मोहनकृष्ण बोहरा प्रदेश के एक ऐसे वरिष्ठ हिन्दी-आलोचक हैं, जिनके लेख पत्र-पत्रिकाओं में- कुछ बहुत प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में भी- जब तब छपते रहे हैं। पर छपने के उनके क्रम में इतना लंबा अंतराल रहता रहा है कि वे अभी तक प्रायः परिचय अपरिचय की संधि पर ही रहे हैं। 'तसलीमा के हक में' के साथ, जो एक तरह से उनकी प्रथम प्रकाशित पुस्तक ही है, वे एक ऐसे प्रखर संवेदनशील आलोचक के रूप में सामने आए हैं जो अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक सत्ताओं को चुनौती देने वाले साहित्य के बारे में लिखने की विशेष चिन्ता करते हों। तस्लीमा ने एक औरत के रूप में न केवल बांग्ला देश के अपितु हर देश के पुरुष प्रधान समाज के विरुद्ध लिखा है। इसी तरह वे न केवल बांग्लादेशी इस्लाम के कट्टरपंथियों-कठमुल्लाओं की निन्दा करती हैं, वे ईशनिन्दा की सीमा तक जाकर हर तरह की धर्मान्धता की निन्दा भी करती होती हैं। श्री बोहरा ने तसलिमा की हिन्दी में उपलब्ध कृतियों के आधार पर पुरुष-वर्चस्व का सशक्त प्रतिवाद करते उनके स्त्री-स्वर से और धर्मादेशों को अस्वीकारते उनके प्रबुद्ध विवेक से पाठक को जोड़ने का एक गंभीर प्रयास किया है। तसलीमा के विषय में उन दिनों हमारी पत्र-पत्रिकाओं में छुटपुट बहुत लिखा गया था, जब उनका अपने देश में रहना दूभर होता जा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहा था (और अन्ततः उन्हें देश-त्याग की कीमत पर ही जान बचानी पड़ी)। यहाँ के हिन्दूत्ववादियों ने 'लज्जा' में बांग्ला-देश के हिन्दुओं पर हुए जुल्म को दिखाने पर उन्हें साधुवाद दिया था; पर उसमें उनके आचरण को जो आईना दिखाया गया था, उन्होंने जानबूझकर उसे नहीं देखा और यहाँ के कट्टरतावादी मुसलमानों के लिए तो वह सलमान रुश्दी की तरह ही दंडनीया थी। बोहरा जी की यह पुस्तक धार्मिक अनुदारता का प्रतिरोध करते हुए अपने पाठक का तसलीमा के मानवीय सरोकारों से साक्षात्कार कराती है। तसलीमा के हक में लिखते हुए लेखक औरत की आजादी के हक में भी लिख रहा होता है और सबसे अधिक वह लेखकीय स्वतन्त्रता के सवाल को भी उठा रहा होता है।

पुस्तक के दस लेखों में आधे से अधिक 'लज्जा' से सम्बन्धित हैं, एक तसलीमा के दूसरे उपन्यास 'फेरा' पर है, एक उनकी कविता पर है और एक उनके नारीवादी चिन्तन पर है। 'लज्जा' पर लिखते हुए बोहरा जी ने साहित्यिक दृष्टि से उसे साधारण मानते हुए भी लेखिका के असाधारण साहस के स्मारक के रूप में उसे एक बहुत महत्वपूर्ण कृति माना है। उसे लेकर अलग-अलग सवालों के संदर्भ में उन्होंने जो लेख लिखे, उन्हें उसी रूप में यहाँ प्रस्तुत कर दिया गया है। यदि लेखक इन्हें अन्तर्ग्रथितकर देता तो 'लज्जा' पर उसका एक ही बड़ा पर शायद बेहतर लेख बनता। तसलीमा की अन्य कृतियों पर विचार करते हुए भी वह उनके विचार-जगत को ही प्रमुखता देता है, क्योंकि साहित्यिक विश्लेषण यहाँ उसका उद्दिष्ट नहीं है। तब भी यथा-प्रसंग वह अपनी टिप्पणियाँ देता है और अपने आलोचक की रसज्ञता को प्रकट करता होता है। यथा तसलीमा की नारी-दृष्टि पर लिखते हुए उनकी कविताओं के बारे में उसकी यह टिप्पणी द्रष्टव्य है: (जो तसलीमा में केवल पुरुष विरोधी नारी-दृष्टि ही तलाशते हैं; उनके लिए उसकी प्रेम कविताएँ विस्मय कारक भी होंगी वह अनुभव करती है कि-

उम्र बढ़ते-बढ़ते क्या ऐसा नहीं होता- कि ढह जाने के ठीक पहले- और एक जीवन की चाह होती है। ऐसा तो नहीं है कि नहीं होती- होती है।

जब वह चाह जागती है, तब जागती है एक प्यास और प्रतीक्षा, किसी को पाने की, किसी के आने की, उसके लिए जीने की, उसके लिए समपर्ण की. . .)

पुस्तक में चूँकि तसलीमा की रचनाओं से प्रेरित विचारोत्तेजना में लिखे गए अलग-अलग किन्तु सम्बद्ध लेख हैं, इसलिए वह हमें लेखिका से बखूबी परिचित भी कराती है। वह कृतियों की साहित्यिक गहराई में तो हमें नहीं ले जाती, बांग्ला भाषा से परिचय के अभाव में लेखक की उस स्तर पर पकड़ गहरी हो भी नहीं सकती थी, लेकिन वह हमारे समय की एक अत्यन्त तेजस्वी-साहसी-विद्रोही नारी के लेखन की उत्तप्त ऊर्जा हम तक प्रवाहित ज़रूर करती है।

समीक्ष्य कृतियां

1. **हिन्दी कहानी का विकास**
   - *मधुरेश*
   [नई कहानी - इलाहबाद / 1996 / 100/-]

2. **उपन्यास का पुनर्जन्म**
   - *परमान्द श्रीवीस्तव*
   [वाणी प्रकाशन - नई दिल्ली / 1995 / 135/-]

3. **तसलीमा के हक में**
   - *मोहन कृष्ण बोहरा*
   [नेशनल पब्लिशिंग हाउस - जयपुर / 1997 / 150/-]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राघव आलोक

पहाड़ के जलते शरीरः अनुभवों का जीवंत दस्तावेज़

अपनी पहली कविता-पुस्तिका 'पाठशाला' से अपनी काव्य संवेदना की पहचान कराने में सफल रहे कवि वंशी माहेश्वरी आज किसी विशेष परिचय के मोहताज नहीं रह गये हैं। 'पाठशाला' की कविताओं से गुजरते हुए कवि चंद्रकांत देवताले ने बहुत ठीक ही कहा है कि इन कविताओं ने अपनी ताज़गी और नये सृजनात्मक मुहावरे वाली पड़ताल से पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। अपने ताज़ा तीसरे कविता-संग्रह 'पहाड़ के जलते शरीर' की कविताओं में अपनी जिस यथार्थपरक कविता-संवेदना और दृष्टि का परिचय दिया है, उससे इनका परिचय वृत्त और व्यापक हुआ है। वरिष्ठ कवि श्री चंद्रकांत देवताले, जो इनकी कविताओं के सजग पाठक रहे हैं, के शब्दों में कहा जाय तो इस संग्रह में मां और बच्चों को लेकर जिस संवेदनशील दृश्यावलोक की सृष्टि हुई है, उसमें न केवल श्रम और सामाजिक अन्याय की दारुण स्थितियां हैं बल्कि जीवन के कार्यकलापों की सजीव, ठोस भूमि का विस्तार भी है। विचार की जुगाली के बदले जीवन- प्रक्रिया से रिसती ये कविताएं हमारे समय के अमानुषिक हालातों के एक साथ मार्मिक और कठोर परीक्षण जैसी भी है।"

इस संग्रह की कविताओं में 'मां' और 'बच्चे' शीर्षक कविताओं से गुजरते हुए किसी भी सजग पाठक को यह एहसास हो जा सकता है कि ये कविताएं अपने समय की विसंगतियों, त्रासदियों और विद्रपताओं को उद्घाटित करने में काफी सफल रही हैं। ये कविताएं अपनी संवेदना की गहराई और कथ्य की व्यंग्यात्मकता में कवि को महाकवि निराला की परंपरा में खड़ी कर गई हैं। कहना नहीं होगा कि इस संग्रह की ये कविताएं ही इस पुस्तक को पाठकों के लिए जरूरी बना गई हैं।

पहाड़ के बेईतंहा दर्द से कवि जब भी जुड़ा है, तो खुल कर जुड़ा है। अपने इलाके में फटेहाल ज़िंगगी उसे जब भी आकर्षित करती है, तो एक अजीव ऊर्जा का अनुभव होता है कवि को। कवि ने संघर्षशील फटेहाल ज़िदगी में शामिल मां की आहत आंखों में खाली पेट की सचाई को काफी करीब से महसूस किया है, जहां बच्चे का पेट नहीं भर पाता है मा के सूखे, थके स्तन-पान से और तब बच्चा रोता-रोता अपनी साँस लेना भी शायद भूल जाता है। यह बच्चे की ज़िंदगी की त्रासदी है कि उसकी मां की, सवाल यह नहीं है। बल्कि सवाल यह है कि ऐसी स्थिति बनायी किसने कि बेकसूर सजा भोगे और कसूरबार इनकी त्रासदी पर अट्टहास करे।

यह अट्टहास तब और क्रूर और डरावना लगता है, जब श्रम में जुटी बच्चे की मां अपनी थकान के क्षणों में अपने सात साला बेटे की बाट जोहती होती है, तब उसका अबोध, निर्दोष और मासूम बेटा अपने बेरहम मालिक के पैरों में मोज की तरह जूते में अटका होता है, जिसे उसका मालिक जूते खोलते वक्त बेहरमी से पैरें से निकाल फेंकता है, या कि अपने फटे मोजे की तरह बेदर्दी से कूड़ेदान में या जूतेदान में फेंक देता है।

कवि की इस मजबूर मां की स्थिति इतनी बदतर है कि सरकारी अस्पताल की हवा की खिड़की पर खड़ा उसका अबोध, मासूम बेटा दवा की खाली बोतल में अपनी बीमार मां का रोगग्रसत चेहरा देखने था कि झेलने के लिए हर स्थिति में मजबूर होता है। लेकिन सरकारी अस्पताल के कान पर जू तक नहीं रेगंती है।

इसी तरह, सामाजिक अन्याय के तले दबे, सामाजिक बदसलूकियों से मार खाये बच्चों की स्थितियों को, इनकी त्रासदियों को रेखांकित करने में कवि की संवेदना काफी सजग एवं सक्रिय रही है। बच्चे चाहे अमीर के हो चाहे गरीब के, इनका बचपन छीनने का अधिकार किसी को नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। कवि की संवेदना यहां आकर काफी सघन हो गयी है जहां वह उन मांओं के बच्चे होटलों में कप-बसी धोने को मजबूर होते हैं। वहां इन बच्चों की सफेद होती औरतों में बचपन की सूखी नदी ठहरी-सी नज़र आती है। कवि महसूस करता है कि जब यही बच्चें दूसरे बच्चों को खेलते देखते हैं तो इनके कांपते हाथोंसे पानी से भरे गिलास टूट जाते हैं। मानो इनके बचपन के अधूरे सपने टूट कर बिखर गये हों।

कवि की ये पहाड़ी संघर्षशील औरते झांसी की रानी की तरह अपनी पीठ पर अपने मासूम बच्चे के भविष्य को ढोती, पहाड़ सी ज़िंदगी तोड़ती होती है। टूटते पहाड़ों अथवा पत्थरों से जो आग उत्पन्न होती है, वह उसके पेट में जलती भूख की आग के समान है। भूख झेलती औरत को देखकर कवि महसूस करता है कि ये मोयें राटी नहीं मानों हवा पीकर जीती हैं अथवा आग खाकर ही जीती हैं। इस संघर्ष और कठोर ज़िंदगी में और कोई शामिल हो न हो, जंगल हमेशा शामिल रहा है। जंगल के शामिल होने के कारण ही शायद औरत की ज़िंदगी में उत्साह अब भी बाकी है। यही उत्साह उदासी को काटता है और जीने का संबल देता है। इन संवेदनाओं को कवि इन शब्दों में व्यक्त किया है- "झांसी की रानी की तरह - मां - बच्चे को पीठ पर बांधे - पत्थर तोड़ती है - पत्थर में कैंद - चिटकती आग - मां का पेट है - मां रोटी नहीं - हवा खाती है!"

फुटपाथी ज़िंदमी बसर करती, पत्थर तोड़ती इन औरतों के संघर्ष और कर्मठता को देखकर महाकवि निराला की पत्थर तोड़ती औरत की याद हो आती है।

इन संघर्षशील मांओं के बच्चे की ज़िंदगी में शामिल होते हुए कवि को एहसास होता है कि ये बच्चे कमजोर धागे में, छोटी-पतंग की ऊंची उड़ान संभाले सरपट भागते नज़र आते हैं। मानों ये बच्चे अपनी ज़िंदगी के कमजोर धागों के सहारे अपनी खुशियों की पतंग को ऊंची उड़ान देने के लिए ऊंचे आसमान को झूकाने को बेताब से नज़र आते हैं।

कहना नहीं होगा कि इन बच्चों की ज़िंदगी की ख्वाहिशों में शामिल होता कवि पूरी संजीदगी से अपने समय से, अपनी समाज-व्यवस्था से सवाल करता है कि आखिर क्यों कर दुनिया की नज़र नहीं पहुंच पाती है इन बच्चों तक, जहं इन बच्चों का बचपन, इनके खेलने वाले हाथों और खेलने वाले पैरों से यह दुनिया इतनी दूर हो जाती है कि इनके हाथ-पैरों में औरों की तरह जन्मी या कि जन्मजात हाथों की चिकनाई या मासूमियत इतनी जल्दी क्योंकि खुरदूरी हो जाती है! वे कौन हैं, जिन्होंने इन मासूम हाथों में किताबों के बसते की जगह झाडू पहड़ा गये हे? जूठे कप-प्लेट और बर्त्तन धोने के लिए इन्हें मजबूर किया है? वे कौन हैं, जो इन बच्चों की आंखो में लाल जाले बुन गये हैं? कवि को इस बात की बेहद तकलीफ है कि ऐसा करने से पहले उनने क्यों नहीं सोचा कि इन बच्चों की ज़िंदगी बिना 'बचपन' और 'पाठशाला' के कई-कई उम्र पार करती होती है और इनकी ऊर्जा बेकार चली जंती है? इन जलते सवालों का जवाब शायद इस बेरहम समाज के पास नहीं है।

कवि ने इन बच्चों की ज़िंदगी को करीब से देखा महसूसा है, तभी इस युद्ध के बाद की शांति या कि युद्ध के बाद का हाहाकार सुनाई देता रहा है। इन हाहाकारों के बीच कवि अनुभव करता है कि "बच्चा अपने कमरे में जले दृश्यों के बाद अध्जली किताबें, पेंसिलें और रंगीन तस्वीरें अपने बस्ते में खुशी-खुशी इकट्ठी कर रहा है।" तो वहीं वह "अपनी मां की फटी धोती पिता के निर्जीव कमीज को टटोल नहीं पाता न ही आटे से खाली कनस्तर को सीधा करने की ही सोच पाता" बच्चों की मनास्थितियों से जुड़कर कवि गहराई से महसूस करता है कि भले ही बच्चे को मालूम नहीं कि यह बारूद जलने का अंतिम धुआं है कि कुद और है। शायद इसलिए बच्चा उन अघजली चाजों की सुरक्षा का अनायास ही सही, अबोध उपाय करने में लगा है। लेकिन वहीं बच्चा अपनी अधजली उन तमाम प्यारी चीजों के हिस्से की रोटी के लिए अपनी मां को पुकार उठेगा, न जाने तब कौन सा बारूद जल उठेगा, तब न जाने कौन-सा भयानक विस्फोट होगा? जाहिर है, बच्चे की कोशिशों के भयानक विस्फोट से तब अन्याय और जुल्म की यह अंधी दुनिया शायद नहीं बचेगी और शायद वहीं से और सिर्फ वहीं से बच्चों की एक नयी, प्यारी और बेहंतहां

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आज़ाद दुनिया की सृष्टि होगी।

कुल मिलाकर, वंशी माहेश्वरी का यह ताज़ा तीसरा संग्रह, महज़ कविताओं का संग्रह नहीं है बल्कि कवि की संवेदना से गहरे जुड़े ताज़ा अनुभवों का ऐसा जीवंत दस्तावेज़ है, जिसे आने वाले समय के लिए सहेज़ कर रखा जा सकेगा। यह कविता-संग्रह अपने समय, संघर्ष और इनके बीच की जीवंतता को रेखांकित करने में काफी सक्षम रहा है, यही इसकी उपलब्धि भी मानी जा सकती है।

इसके अलावा, संग्रह की अन्य प्रेम कविताएं भी अपने-मन-मिज़ाज़ में बिल्कुल अलग जो एहसास कराती हैं, जिसमें डूबे बगैर पाठक रह नहीं सकता है। " "

समीक्ष्य पुस्तक :

पहाड़ के जलते शरीर

कवि : *वंशी माहेश्वरी*

प्रकाशक : *रामकृष्ण प्रकाशन*

सावित्री सदन, तिलक चौक

विदिशा (म. प्र.) - ४६४००१

प्रथम संस्करण : *१९९७*

मूल्य : *६०/-*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकानुरंजन मेले ने लोक संस्कृति के रंग बरसारे

भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर के ४६ वें स्थापना दिवस पर प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले १९ वे पद्मश्री देवीलाल सामर स्मृति लोकानुरंजन मेले में लगभग १२५ लोक कलाकारों ने अपनी कला के माध्यम से लोक संस्कृति के रंग बरसाये।

२२ व २३ फरवरी को आयोजित होने वाले लोकानुरंजन मेले की तैयारियां पिछले ४-५ माह से चल रही थी। लोकानुरंजन मेले के अन्तर्गत नगर में वर्ष दर वर्ष महत्वपूर्ण सांस्कृतिक गतिविधियॉं आयोजित होती आ रही है। इसी महत्व को देखते हुए, इसकी भव्य तैयारियों में संस्था का प्रत्येक कार्यकर्ता निष्टा व लगन से समय की परवाह किए बिना लग जाता है। इस वर्ष की मेला समिति के संयोजनक श्री दिनेश बंसल व अध्यक्ष प्रबधकारिणी समिति के सदस्य श्री सम्पत बापना को बनाया गया था। संस्था के मानद सचित श्री रियाज तहसील व परामर्शदाता श्री रणजीत सिंह चौहान सभी कार्यो व तैयारियों के मार्ग दर्शन में लग गए थे।

मेले में भाग लेने हेतु १४ दलों को आमंत्रित किया गया था। पश्चिम क्षेत्रीय सांस्कृतिक केन्द्र के निदेशक श्री सी. एल. मीणा से अनुरोध किया गया, जिससे उन्होंने केन्द्र की ओर से ३ दलों (लावणी, मांगणियार व कालबेलिया) को भिजवाया। इसी प्रकार फ्रांस की जैजी ने भी दो दल कालबेलिया व लंगा दलों की विशेप प्रस्तुति दी। इस बार भारत एल्युमिनियम लि. कं. कोरवा (म. प्र.) से अनुरोध किया गया की वह भी अपने क्षेत्र की कला का दल भिजवाए, उन्होंने २० सदसीद दल कं. की ओर से लोकानुरंजन मेले में भाग लेने हेतु भिजवाया।

२२ फरवरी को लोकानुरंजन मेले की रंगारंग शुरूआत पारम्परिक आदिवासी लोक नाट्य गवरी, नटबाजी, धोराधरती की सरगम एवं शंख गर्जन के साथ हुई। बाड़मेर से आये इंदु खां लंगा दल ने मॉंड़, हिचकी, गोरबन्द सुनाकर तथा श्योपति कालबेलिया के भवाई नृत्य ने दर्शकों की खूब तालियॉं बटौरी। होली पर किया जाने वाला गरासियों का रायण नृत्य तथा राजकी दल द्वारा कालबेलिया नृत्य अत्यंत आकर्पक रहा। छतीसगढ़ का कोरबा नृत्य दल विशेपरुप से आमंत्रित किया गया ाि, जिसने उदयपुर बासियों को छतीसगढ़, मध्य प्रदेश की आदिवासी कला संस्कृति से अवगत कराया।

आरम्भ में समारोह के अध्यक्ष प्रसिद्ध उद्योगपति, समाजसेवी व संस्था के का. अध्यक्ष श्री सलित सिंघल ने स्व. सामर की प्रतिमा पर माल्यार्पण किया व दीप प्रज्वलित कर मेले का शुभारम्भ किया। मुख्य अतिथि मार्बल एसोसियेशन के अध्यक्ष श्री ओम अग्रवाल को कार्यवाहक व्यवस्था मंत्री श्री माणके जारोली ने माल्यार्पण किया व मेला संयोजक श्री दिनेश बंसल व श्री श्याम माली ने अध्यक्ष को माल्यार्पण कर स्वागत किया।

संस्था के मानद सचिव श्री रियाज तहसीन ने आमंत्रित सभी लोक कलंकारो एवं दर्शकों का भावभीना हार्दिक स्वागत करते हुए कहा कि लोक कलाऐं जन-जीवन की अमूल्य धरोहर जिन्हें इस लोकानुरंजन मेले के माध्यम से दर्शकों तक पहूँचाकर उनका जीवन स्वच्छ, सुन्दर एवं परिष्कृत करने का मूल उद्धेश्य विदित रहता है। आपने कहा कि इन पारम्परिक लोक कलाओं को आज के युग के अनुरूप परिष्कृत एवमृ परिमार्जित करने की भी बहत्ती आवश्यकता है जिसे भारतीय लोक कला मण्डल कर रहा हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

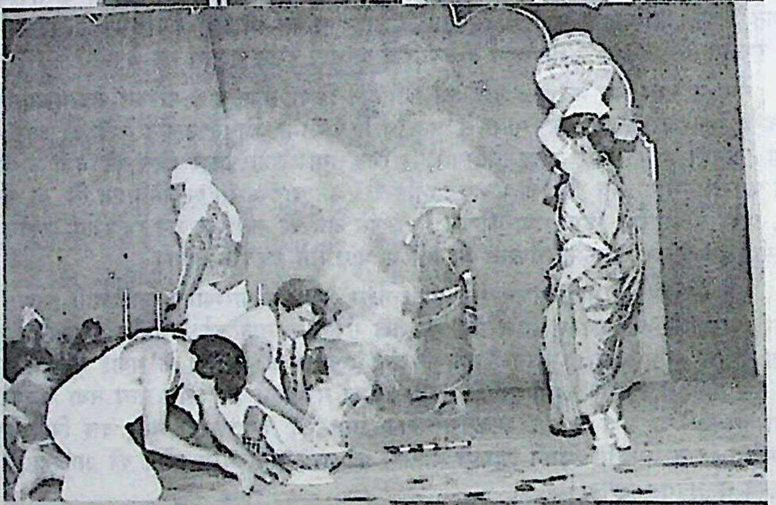

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

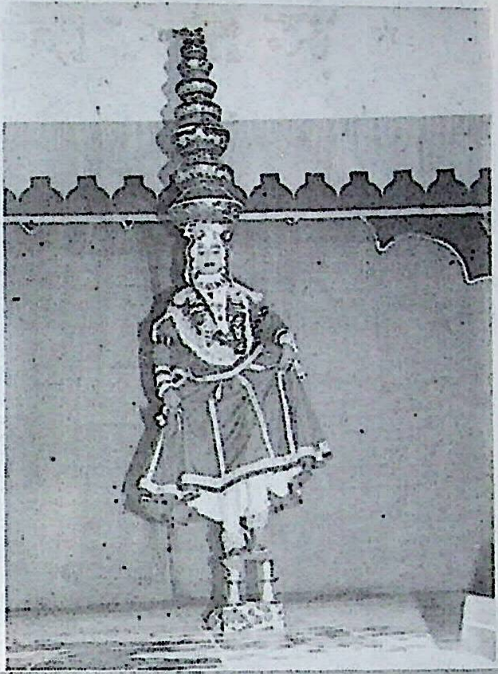

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

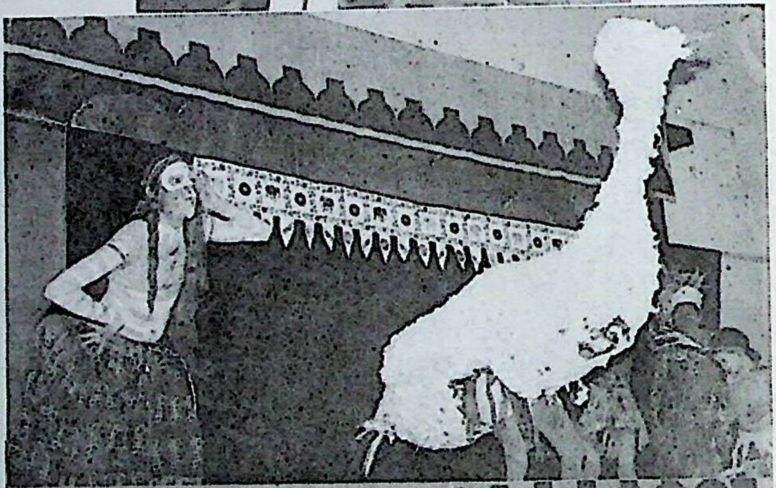

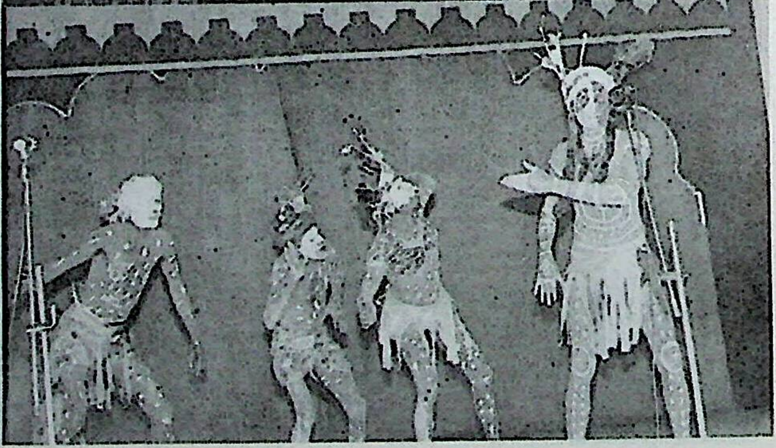

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकानुरंजन मेल में इस प्रथम दिवसीय प्रस्तुतीकरण में बॉरा शाहाबाद के सहरिया आदिवासी नृत्य ने तो जैसे समारोह में समॉ ही बॉध दिया। बली खॉ दल की लंगा गायकी व रूपनाथ दल के कालबेलियाई करिश्मों ने दर्शकों को आमंत्रित किया लोकानुरंजन मेले में पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र द्वारो भेजे गये लावणी, मांगणियार व काल बेलिया दलों ने दर्शकों का खूब मनोरंजन किया। पन्नालाल कलाकार द्वारा तैयार की गई हाथी की सवारी बहुत आकर्पक रही। भंवरलाल अहिर का शंखवाद व मालवा के नट कन्हेया व उत्तरा की नटवाजी भी बहुत सराहनीय रही।

लोकानुरंजन मेले में प्रमुख आकर्पण पद्म श्री उगमराज कुचामणी ख्माल दल ने देर रात तक दर्शको को जमे रहने पर बाध्य कर दिशा तथा खूव वंसमोर कहलवा कर वाह-वाह लूटी स्मरणीय हैं कि मेले के प्रथम दिवस पर प्रेक्षालय दर्शकों से खचाखच भरा हुआ था तथा दर्शक जहाँ भी जगह मिली वहाँ खडे रहकर उत्सुकता वश मेले के आनन्द ले रहे थे।

२३ फरवीर (दूसरे दिन) प्रातः ९.३० वजे लोकानुरंजन मेले में आमंत्रित सभी लोक कलाकारों की रैली को आदिम जाती शोध संस्थान के निदेशक श्री एच. वी. त्रिवेदी ने हरी झण्डी दिखाकर संस्था प्रांगण से विदा किया।

रैली में स्व. सामर सा. की तस्वीर सवसे आगे सजाई हुई थी, रैली में ऊंट गाड़ी, बैल गाडियों में कलाकार व झाकियॉ बनाई गई थी। लंगा दल, कालवेलिया दल, गरासिया, सहरिया, मांगणियार दल, मेड़ता के ख्याल दल अपनी प्रस्तुतियॉ देते हुए शहर के प्रमुख मार्गो चेटक, हाथीपोली, घण्टाघर, सिन्धी बाजार सूरजपोल, बापु बाजार, देहलीगेट कोर्ट चौराहा होते हुए संस्था में पुनः पहुँच।

इसी दिन २३ फरवरी की सायं ९.३० बजे से लोक कलाकारों की रंगारंग प्रस्तुतियाँ पुनः मुख्य रंगमंच व संस्था प्रांगण में आरम्भ हुई।

दूसरे दिन के समारोह की अध्यक्षता पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र के निदेशक श्री सी. एल. मीणा न की तथा मुख्य अतिथि सम्भागीय आयुक्त श्री सी. एम. मीणा थे। प्रदर्शन विभाग के प्रभारी श्री ईश्वर माथुर ने माल्यार्पण कर अतिथियों का स्वागत् किया। संस्था के मानद सचिव श्री रियात तहसीन ने सभी आगन्तुक दर्शकों व कलाकारों का स्वागत करते हुए संस्था की सभी सांस्कृतिक उपलब्धियों की चर्चा करते हुए लोक संस्कृति का विस्तृत परिचय दिया। उन्होंने बताया कि देश की इन कलाओं की महती आवश्यकता हैं।

संस्था प्रांगण में मावाराम गरासिया दल, तुलसीराम के गवरी दल, सुरेन्द्र के सहरिया दल व नटबाजी की आकर्पक प्रस्तुतियों के साथ समारोह का शुभारंभ हुआ। मुख्य प्रेक्षालय में बाड़मेर के इन्दु खां लगादल ने गोरबंध गीत गाकर व रूपनाथ कालबेलिया दल ने अपना पारम्परिक नृत्य प्रसतुत कर दर्शकों से तालियों की शुरूआत कराई।

उगमराज खिलाड़ी दल ने श्रंगार व हास्यरूप की अनेक रोचक प्रस्तुतियां देकर दर्शकों का मनोरंज किया। फलौदी के बलीखां लंगादल ने ढोलक, हारमोनियम मोरचंग, खड़ताल, घडा व अलगोचा आदि वाद्य यंत्रों के साथ लोग संगीत की वर्षा की।

पश्चिम क्षेत्र के सौजन्य से आये लावणी नृत्य व मांगणियार दल ने दर्शकों का भरपूर मनोरंजन किया। सुगनी कालबेलिया दल ने दर्शकों की खूब तालियॉ बटौरी। उदयपुर भ्रमण हेतु आये देश विदेशियों के सैलानियों के लिए लोकानुरंजन मेला विशेप आकर्पक का केन्द्र रहा। अनेक देश विदेशी शोधर्थियों ने भारत की प्रदर्शनकारी लोक कलाओं की जानकारी प्राप्त की।

सभी कलाकारों के दलो की सांस्कृतिक केन्द्र के निदेशक श्री सी. एल. मीणा ने प्रमाण पत्र प्रदान किए व सम्भागीय आयुक्त श्री सी. एम. मीणा ने सभी दलों को प्रतीक- चिन्ह प्रदान किए। मेला समिति के अध्यक्ष सम्पत बापना ने सभी दलों के प्रभारियों का माल्यार्पण कर अभिवादन किया व सभी कलाकारों व कार्यकर्ताओं को उनके सहयोग के लिए व सभी दर्शकों का १९ वें पद्मश्री देवीलाल सामर स्मृति लोकानुरंजन मेले को सफल बनाने के लिए हार्दिक आभार प्रकट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किया।

मेले में आर्थिक सहयोग देने हेतु पी. आई. इण्डस्ट्रीज, उदयपुर, बजाज सेवाश्रम, उदयपुर, राजस्थान स्टेट माइन्स एण्ड मिनरल्स, उदयपुर, जे. के. इण्डस्ट्रीज लि. कांकरोली, पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र भारत एल्यूलिमियम लि. कोरबा (म.प्र.) व श्री ओम अग्रवाल को भी आभार प्रदर्शित किया। आकाशवाणी व सभी समाचार पत्रों का भी विस्तुत कवरेज करने के लिए धन्यवाद व आभार प्रकट किया।

मेले में प्रथम दिन के कार्यक्रमों का संचालन श्री दिनेश बसल व दूसरे दिन के कार्यक्रमों का संचालन श्री श्याम माली ने किया।

(गोचर्धन सामर)
जन सम्पर्क अधिकारी
भारतीय लोक कला मण्डल.
उदयपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिट्ठियां

डॉ. कपिला वात्सायनः 'रंगायन' के अंक यथावत मिलते रहे। नये अंक भी मिले। आप तो बहुत महत्व का कार्य कर रहे हैं, मात्र अपने बलबूते पर। सचमुच, आप धन्यवाद और बधाई के पात्र हैं। आपने रंगायन को नया रूप दिया है। अशोक जी की टिप्पणी, रामाश्रय राय जी और बोहरा जी के लेख देखे। तीनों में ही मौलिक सवाल उठाये गये हैं। "लोक" और "आदि"- दोनों ही शब्द जटिल हैं और इधर उनकी मौलिक परिभाषाएं भी रची गई हैं। कभी इन पारिभाषिक शब्दों और इसके पीछे भारतीय चिन्तन पर विचार होना चाहिए।. . .

हकु शाहः 'रंगायन' मुझे बहुत अच्छा लग रहा है। स्वयं प्रकाश जी या किसी का लेख पढ़ा था उसमें काफी कुछ ठोस बात पर उनका ज़िक्र था मुझे पसंद आया। . . .आप लोग बहुत ही अच्छा काम कर रहे हैं।

रमेश चंद्र शाहः 'रंगायन' का अंक मिला। बहुत अच्छा निकला है। . . . 'रंगायन' में इस बार भी बहुत ही पठनीय सामग्री है। सुखद विस्मय होता है, कैसे इतनी अच्छी सामग्री जुटा लेते हो। इस अंक में मैंने श्री मोहन कृष्ण बोहरा, हकु शाह, रामाश्रय राय और बसंत निरगुणे के लेख पढ़े- बहुत रोचक और ज़रुरी जानकारी देने वाले।

कल्याणमल लोढ़ाः भारतीय लोककला मंडल का यह मुख-पत्र वस्तुतः लोक मन व जीवन का भी मुख-पत्र है। सभी लेख सुचिंतित, मौलिक व अपने उपस्थापन में गंभीर व प्रेरक है। श्री अशोक वाजपेयी का वक्तव्य भी ताज़ा है। रामाश्रय राय, स्वयं प्रकाश, मोहन कृष्ण बोहरा, के लेख विवेकपूर्ण व प्रभावी हैं। . . . बचपन याद आ गया- 'हकु शाह के घरः सजीव साथी,' को पढ़कर . . . 'रंगायन' की साज-सज्जा भी मोहक है . . . बधाई।

वागीश कुमार सिंहः 'रंगायन' में गंभीर सामग्री को तुम जिस ढंग से संजो रहे हो, उसकी तारीफ के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। बस सुखद आश्चर्य है-

कलानाथ शास्त्रीः 'रंगायन' के अंक नियमित रूप से मिल रहे हैं, नियमित रूप से पढ़ रहा हूँ क्योंकि सारी सामग्री छनकर, सुथरी और इतनी लुभावनी आ रही है कि एक बार पूरी पढ़े बिना औत्सुक्य शान्त नहीं होता। इतने सतर्क, सुथरे संपादन के लिए, विशेषकर नियमित रूप से ऐसे स्तर की सामग्री देते हुए नियत समय पर प्रकाशित कर भेजने की व्यवस्था के लिए बधाई- देने की ललक बहुत दिनों से थी . . . 'लोक तत्व' पर पिछले सभी अंकों में, विशेषकर अंक २, ३, ४ में बहुत तलस्पर्शी विमर्श प्रस्तुत करने वाले आलेख आप दे चुके हैं। अनुवाद, साक्षात्कार, संवाद, विवेचन, काव्यानुवाद और काव्य सर्जना सभी फार्मेट्स में सुरुचिपूर्वक सामग्री का प्रस्तुतीकरण 'रंगायन' के फलक को जो व्यापकता और वैविध्य देता है वह प्रमुख आधार है ऊपर अंकित बधाई का।

चित्रा मुद्गलः 'रंगायन' को तुम जितनी परिपक्वता और अंर्तदृष्टि से संभाल रहे हो, मैं चकित हूँ। . . .

नंद भारद्वाजः 'रंगायन' मुझे रुचिकर और सार्थक लगी है। 'रंगायन' के लिए जल्दी ही कुछ भेजूँगा।

डॉ. जगन्नाथ पाठकः 'रंगायन' पाकर आश्चर्यमिश्रित आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। इसमें प्रकाशित लेख अपनी सीमा में सुरुचिपूर्ण और ज्ञानवर्धक है. . . आपके लिए लिखने का प्रयास करूँगा...

इंदु प्रकाश कानूनगोः 'रंगायन' का नया अंक मिला, बहुत अच्छा निकल रहा है।

गोमती प्रसाद विकलः 'रंगायन' उत्तरोत्तर संस्कारित हो रही है। वैचारिक कलेवर सम्पन्न पत्रिका पाठकों को सुख देती है।

रमेश चन्द्र तोमर 'निमाड़ी': 'रंगायन' सुंदर और सटीक पत्रिका है। 'रंगायन' में बसन्त निरगुणे का लेख मुझे बेहद पसन्द आया। हम निमाड़ी वासी कृतज्ञ है कि पत्रिका में निमाड़ी को भी स्थान मिला।

यश देव शल्यः 'रंगायन' का स्तर पहले से बहुत अच्छा तो है ही, इसका क्षेत्र-विस्तार भी हो गया है। इसके लिए आप साधुवाद के पात्र है।

विजय कुमारः 'रंगायन' के अंकों को देख रहा था। मैं यह कह सकता हूँ कि 'रंगायन' का कोई विकल्प नहीं है। जो भी सामग्री अभी तक देखी है वह बहुत पठनीय और विचारोत्तेजक है। आपकी अभिरुचि और संपादन-कौशल इस पत्रिका में पूरी तरह महसूस किया जा सकता है। आपने हक्कू शाह पर बहुत अच्छी सामग्री दी है। राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने भी बहुत सुंदर टिप्पणी लिखी है। उनके द्वारा किए गए अनुवादों को पढ़कर आनंद आ गया। इसके अलावा इन अंकों में लोक में मृत्यु की अवधारणा पर आपने इतनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महत्वपूर्ण सामग्री दी है कि वह संजोकर रखने लायक है। यह एक दुर्लभ संदर्भ-सामग्री लगी। गगन गिल के कविता-संग्रह पर राजेन्द्र मिश्र की समीक्षा बड़ी सारगर्भित है।

आप सचमुच बहुत सुंदर, आकर्षक और नयी रुप सज्जा के साथ यह पत्रिका निकाल रहे है। मैं आगामी अंकों की प्रतीक्षा कर रहा हूँ...

ज्योतिष जोशीः 'रंगायन' के आपके सारे अंक बेहद अच्छे और प्रशंसनीय बन रहे हैं, यह देखकर बड़ा अच्छा लगता है कि बहुत कम समय में आपने परिपक्व संपादक की योग्यता अर्जित कर ली है। 'जुलाई-सितम्बर ९७ अंक हक्कू शाह के साक्षात्कार और उनके लेख सहित, राधावल्लभ त्रिपाठी के आलेख तथा 'मृत्यु' पर केन्द्रित रचनाएं पाठकों के संवेदनात्मक सरोकारों को परिष्कृत करने वाली है..

अनूप सेठीः 'रंगायन' का जुलाई-सितंबर' ९७ अंक मिला था, इससे पहले वाला भी मिला था। आपने पत्रिका की छटा बदल दी है। सामग्री चयन भी सुघड़ता से किया गया है। ताज़े अंक में हक्कू शाह वाला साक्षात्कार बहुत उपयोगी लगा। अतंर्दृष्टि देने वाला। माटी, माटी से संबंध, माटी की व्याख्या अद्‌भुत है।

आपकी संपादन कला श्रेष्ठ है।

वंशी माहेश्वरीः 'रंगायन' तुम्हारे संपादन में निखर रही है। बहुविध सामग्री से उसकी एकरसता नहीं बनेगी। यही वजह है कि उसने अपनी पहचान अर्जित कर ली है....

प्रेमशंकरः स्वतंत्र भारत के लोक-साहित्य-संस्कृति-कला की ओर ध्यान दिया, यह सराहनीय है। धरोहर को संजोकर रखना किसी भी राष्ट्र का नैतिक दायित्व है। भारत जैसे समृद्ध संस्कृति के देश में यह और भी आवश्यक है क्योंकि उपभोक्तावादी दबाव बढ़ रहे हैं। आशा है 'रंगायन' इस दिशा में सार्थक कार्य कर सकेगी।

महावीर दाधीचः 'रंगायन' का जुलाई-सितंबर' ९७ अंक बहुत बढ़िया था। हक्कू शाह का साक्षात्कार और उनके आलेख अद्‌भुत थे।

राकेश पाण्डेयः इतनी सुंदर पत्रिका, वह भी लोक-कलाओं को समर्पित देख कर बहुत खुशी हुई। पत्रिका के माध्यम से आपके कर्म और निष्ठा से परिचय हुआ है।

इंदु प्रकाश कानुनगोः रंगायन मिला, खूब सुंदर। बधाई . . कुछ कमियों के बावजूद अंक अच्छा लगा. . आप पत्रिका पर बहुत ध्यान देते हैं और महत्वपूर्ण सामग्री छापते हैं।

वसन्त निरगुणे ; जुलाई सितम्बर, ९७ का 'रंगायन' इस मायने में भी महत्वपूर्ण है कि उसमें हक्कू शाह से गीति सेन की "कला की सार्वभौमिक बहुलता" पर बहुत विस्तार से बातचीत है। गीति सेन ने जितने प्रभावी, सार्थक और सामाजिक प्रश्न पूछे हैं, उसके अनुरुप हक्कू शाह के उत्तर अधिक प्रभावी, सारगर्भित और अनुभव जन्य है। इन्दुप्रकाश कानुनगो का अनुवाद बहुत अच्छा है।

दूसरा सबसे विचारपूर्ण आलेख मुझे डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त का लगा। उन्होंने "लोक में मृत्यु" के हर पहलू पर गंभीरता से विचार किया है। देश में ऐसे विषयों पर इतने सटीक लिखने वाले विरले ही लोग हैं।

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी का आलेख रंगायन की तीसरी महत्वपूर्ण कड़ी है। त्रिपाठी जी शास्त्र और लोक के सबसे प्रखर अध्येता है।

'कालन कोलम' बहुत छोटा लेख है, उस पर विस्तार से लिखवाना उचित होता। . . .

गुप्तेश्वर द्वारका गुप्तः आपने हक्कू शाह से गीति सेन की बातचीत का जो हिन्दी अनुवाद करवाया है वह न केवल संग्रहणीय है बल्कि कला के क्षेत्र के लिए अनुपम उपलब्धि भी। चित्रकला के बारे में जिन भावों और लोक की जीवन्त भावना को शब्दों के माध्यम से उकेरा गया है यह अपनी विशिष्टताओं को आत्म-सात् किए हुए है। ऐसे लेखों को आपने पत्रिका में स्थान देकर लोक-परम्परा को संरक्षण प्रदान किया गया है, वह महत्वपूर्ण है।

लोक-दृष्टि को नये आयाम देने की आपकी यह भरसक कोशिश सार्थक सिद्ध होगी। लोक की प्रामाणिक पहचान जीवन-मूल्यों को सार्थक बनाती चल रही है, यह आपके हाथों का "सुफल" है कहने में मुझे कोई संकोच नहीं होता।

श्री राजेन्द्र मिश्र और नवल किशोर जी की समीक्षायें अच्छी लगी। प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त को फोकस "लोक में मृत्यु" पूर्णता लिए हुए प्रस्तुत हुआ है। यह हमारे लिए उपलब्धि है।

उम्मीद है कि पत्रिका आगे भी संग्रहणीय अंक के रूप में हमारे सामने होगी।

राकेश वत्सः निश्चित ही लोक कलाओं की प्रासंगिकता और समकालीनता को उजागर करने वाली यह एक अनूठी और उपयोगी पत्रिका है। पहले पन्ने पर छपा श्री अशोक वाजपेयी का विश्लेषण इस अंक को गरिमा प्रदान करता है।...

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ. राम कमल रायः 'रंगायन' अद्भुत पत्रिका है। इतने अच्छे लेख, इतने स्तरीय लेखक और इतनी कलात्मक प्रस्तुति विरल है। इनमें लिखने का स्वयं मन हो आता है।

डॉ. श्रीराम परिहारः 'लोक समय में मृत्यु' को लेकर रंगायन बहुत अच्छा काम कर रहा है।...

यशपाल वैदः नया अंक सचमुच आकर्षक बन पड़ा है। 'समीक्षा लोक' में मेरे दो कथासंग्रहों की समीक्षा के अन्तर्गत भाई राजेंद्र सक्सेना ने प्रत्येक कहानी पर जो टिप्पणी की है, उससे यह विदित होता है कि उन्होंने प्रत्येक कहानी को बारीकी से पढ़ा है और तभी सार व सार्थक रूप में निचोड निकाला है।...

जय प्रकाशः ..'रंगायन' का नया अंक मिला। इस बार तो साज-सज्जा की दृष्टि से यह बहुत ही सुंदर बन पड़ा है। सामग्री पर भी एक नज़र डालने पर मन प्रसन्न हो गया।...

विपिन बिहारी सिंहः काफी अर्से बाद एक सुरुचिपूर्ण पत्रिका देखने को मिली। मेरा साधुवाद स्वीकारें। जुलाई-सितंबर ९७ के अंक में प्रकाशित 'लोक में मृत्यु' (प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त) लोक-धारा में मृत्यु-गीत (गु. द्वारका गुप्त) कुछ कायापरक बुन्देली लोक गीत (अनुवाद) अपने तरह के अनूठे लेख हैं।...

लक्ष्मी नारायण तिवारीः 'रंगायन' का जुलाई-सितंबर' ९७ अंक बहुत उपयोगी है। लोक-तत्व अध्येताओं के लिए संग्रहणीय है।...

अविनाशः . . लोक-संस्कृति मेरी खास रुचि का विषय रहा है, मिथिला का हूँ। जहां माह, मरवान और पोखर (जोहड़) में गुनी हुई संस्कृति है। साहित्य कर्म भी वही टिक सकता है, जो लोक संस्कृति से संयुक्त हो। हमारे यहां फणीश्वर नाथ रेणु ने पूरे साहित्य पटल पर अपनी अलग ही कीर्ति बनायी है. . आपने 'रंगायन' को लोक संस्कृति पर एकाग्र करके बहुत बढ़िया काम किया है।

महेन्द्र रंगाः 'रंगायन' वाकई आप बहुत परिश्रम से निकाल रहे हैं।

वीरेन्द्र गिरिः आपकी पत्रिका में लोक-कला के अन्तर्वलय में लोक-संस्कृति को उद्‌भासित करने वाली साहित्यिक दृष्टि का समीचीन प्रयोग किया गया है। डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी द्वारा अनूदित कविताएं मर्मस्पर्शी तो है ही, आज साहित्य के प्रति मौलिकता के निरंतर बढ़ते दबाव को भी इंगित करती है।

डॉ. विनोद कुमार जोशीः 'रंगायन' अच्छा निकल रहा है. . गुजरात के लोक-गीतों के अनुवाद कितना कैसा हो पाएगा पता नहीं पर मेरा मन आपके प्रस्ताव से बन रहा है।

राजेंद्र टोंकीः पहली बार 'रंगायन' का अंक देखा। 'लोक-साहित्य' पर इतनी स्तरीय सामग्री प्रकाशित करने के लिये मेरी बधाई स्वीकार करें। आप एक कुशल संपादक हैं..

प्रदीप बिहारीः 'रंगायन' का अंक पाकर मन मयूर नाच उठा। विद्वतापूर्ण लेख और स्तरीय काव्यानुवादों ने अंक की सारगर्भिता में चार चांद लगा दिए हैं।

'लोक में मृत्यु' के लिए प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त को बधाई।

बसन्त निरगुणेः 'रंगायन' का नया अंक मिला। जिस आत्मीयता से मेरा लेख आपने 'रंगायन' में शामिल किया। बहुत आभारी हूँ। 'रंगायन' उसी उत्कृष्टता के साथ प्रस्तुत हुआ है। श्री अशोक वाजपेयी की अग्रिम टीप आपने जिस सम्पादकीय की तरह छापी है, अत्यन्त गंभीर और सारगर्भित है।...

कलाधरः रंगायन का अक्टूबर-दिसंबर' ९७ अंक आद्योपांत पढ़ गया। इतना सुंदर अंक वाकई काबिलेतारीफ है। आलेख काफी ज्ञानवर्धक और खोजपूर्ण है।

आलोक टण्डनः आपकी प्रतिभा और परिश्रम 'रंगायन' को स्तर और पहचान देने में समर्थ है।

गुलाबचंद कोटडियाः 'लोक' को पूर्णतः समर्पित 'रंगायन' उत्कृष्ट कोटि के साहित्य की पत्रिका है। गंभीर, ज्ञानवर्धक, पठनीय तो है ही अपने सुन्दर आकार-प्रकार के कारण संग्रहणीय भी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रंगायन (त्रैमासिक) का स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण

(फार्म -4 नियम -8 के अनुसार)

1. प्रकाशन स्थान : भारतीय लोककला मण्डल, उदयपुर

2. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक

3. मुद्रक का नाम : चौधरी ऑफसेट प्रा. लि.
   क्या भारत का नागरिक है? : हाँ
   पता : ११-१२ गुरु रामदास कॉलोनी, उदयपुर ३१३००१

4. मुद्रक प्रकाशक का नाम : रियाज़ तहसीन
   क्या भारत का नागरिक हैं? : हाँ
   पता : भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर

5. सम्पादक : पीयूष दईया
   क्या भारत का नागरिक हैं? : हाँ
   पता : भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर

6. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों। : भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर

मैं रियाज़ तहसीन एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सही हैं।

ह. रियाज़ तहसीन
(प्रकाशक के हस्ताक्षर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

With Best Compliments from :-

PESTICIDES INDIA

(A DIV. OF PI INDUSTRIES LTD.)

-: Formulators of :-

VEGFRU BRAND

Pesticides, Insecticides, Weedicides, Fungicides

and

-: Manufactures of :-

PHORATE, ETHION, DIVAP, MONOCROTOPHOS, PROFENOFOS & GLYPHOSATE TECHNICALS.

Post Box No. 20,
Udaisagar Road
UDAIPUR - 313 001

Tel: 492451 - 55
Fax: 9 1 - 0294 - 49 1 946
9 1 - 0294 - 491384

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

With Best Compliments from :-

RAJASTHAN STATE MINES & MINERALS LTD.

... And you thought we were only a Rock Phosphate & Gypsum Mining Company

It is true that in India, we are the pioneers in mining of these two minerals and for the last 25 years - the largest producers. But over the years we have developed into a mature multifaceted mining company with a varied range of products and services

Our Company Portfolio includes :

Largest deposits of best grade	Consultancy
Rock Phosphate / Gypsum / SMS Limestone / Green Marbles	Mining & Mineral Beneficiation (India & Abroad)

ROCK PHOSPHATE

- *31% P2O5, 12 mm Chips - Mined from country's largest open cast mines (other than coal) at Jhamarkotra, Udaipur.*
- *34% P2O5, Beneficiated Concentrate - 200 Mesh - Produced by largest Beneficiation Technology of its own kind in the country.*

RAJPHOS

- *18 - 20% P2O5 Direct Application Fertiliser for acidic soils. Approved by TOCKLAI & ICAR.*

GYPSUM

- *70% CaSO4.2H2O - ROM & 60 Mesh Powder.*

LIMESTONE

- *SMS Grade of the Highest Quality.*

GREEN MARBLE

- *Classical range of "Kesariyaji Aravali" green.*

For enquiries, Please Contact :

CHIEF MANAGER *(Marketing)*

Rajasthan State Mines & Minerals Ltd.

(A Govt. of Rajasthan Undertaking)

4, Meera Marg, UDAIPUR - 313 001.

Ph.: 0294-527110, 528681-85, Fax : 0294-521727, 523170, E-Mail : rsmml@jp1.vsnl.net.in

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

With Best Compliments from :-

JK TYRE

J. K. Industries Ltd.

MEMBER J.K. ORGANISATION

JAYKAYGRAM
P.O. TYRE FACTORY
KANKROLI
DISTT.: RAJSAMAND
RAJASTHAN - 313 342

JK TYRE
World's First
ISO 9001
Tyre Manufacturer
For Entire Operations

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रंगायन, जनवरी -मार्च १९९८

पंजीयन संख्या १०४३६/६७

संपादक : पीयूष दईया

भारतीय लोक-कला मण्डल, उदयपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi